❀ ओ३म् ❀

औपनिषद-श्रुतिसंग्रहः

तत्र

योगोपनिषत्



संकलयिता व्याख्याता—

वे० शा० श्री स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

संस्थान के प्रमुख प्रकाशन

सांख्यदर्शन का इतिहास—

सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में फैली विविध भ्रान्तियों का युक्ति-युक्त एवं प्रमाण-सहित निराकरण इस ग्रंथ द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सांख्यदर्शन की प्राचीनता के प्रतिपादन के साथ-साथ अनेक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विवेचन तथा कपिल के अतिरिक्त अन्य अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों का विवरण और उनके समुपलब्ध संदर्भों का संग्रह इस ग्रंथ में दिया गया है। लेखक महोदय श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री को इस ग्रन्थ पर निम्नलिखित पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं—

१२००) रु० मंगलाप्रसाद पुरस्कार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
१२००) रु० उत्तर प्रदेश सरकार।
१०००) रु० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।
१०००) रु० सेठ हरजीमल डालमिया स्ट्रस्ट, नई दिल्ली।

यह ग्रन्थ २० × ३०/८ आकार के लगभग ६०० पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। बढ़िया जिल्द है। थोड़ी प्रतियां शेष हैं। मूल्य ३०) रु०

सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य—

भाष्यकार-विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति

इस भाष्य की विशेषता यह है, कि यह पूर्वोपलब्ध संस्कृत भाष्यों का उल्थामात्र नहीं; अपितु यह स्वयं एक मौलिक ग्रन्थ है। विद्वान् भाष्यकार ने अपने जीवन का पर्याप्त भाग लगाकर सांख्य विषय का ऊहापोह पूर्वक मन्थन और विवेचन किया है; उसी के परिणामस्वरूप जो यथार्थ विचार-रूपी 'नवनीत' वह संगृहीत कर पाये हैं, उसे परम्परागत भाष्यशैली को अवहेलित न करते हुए साधु, सहृदय, विज्ञ पाठकों के सन्मुख प्रस्तुत करने के उद्देश्य से यह भाष्य लिखा गया है। वे प्रक्षिप्त सूत्र इस भाष्य में संगृहीत नहीं किये गये, जिनका सप्रमाण विस्तृत विवेचन ग्रन्थकार ने 'सांख्य-दर्शन का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ में किया है। उन सब सूत्रों की व्याख्या और संगति 'परिशिष्ट २' में दे दी गई है।

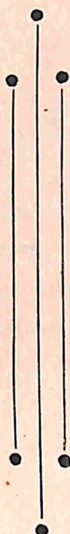
यह भाष्य-ग्रन्थ १८ × २२/८ आकार के लगभग पौने चार सौ पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। बढ़िया जिल्द है। मूल्य ८) रु०।

❀ ओ३म् ❀

औपनिषद-श्रुतिसंग्रहः

तत्र

योगोपनिषत्



संकलयिता व्याख्याता—

वे० शा० श्री स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

प्रकाशक—
स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती, अध्यक्ष—
विरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाजियाबाद (मेरठ) उ० प्र०

द्वितीय आवृत्ति
मूल्य ०.[illegible]० पैसे केवल 50
वैशाख सं० २०३० विक्रमी
अप्रैल, सन् १९७३ ई०

मुद्रक—
भारत मुद्रणालय, के-२० नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

❀ ओ३म् ❀

प्राक्कथन

स्वामी शंकराचार्य्य जी ने उपनिषदों को वेदका स्थान दिया । और उसके पश्चात् धीरे धीरे लोगों की यह धारणा होती गई कि उपनिषदों में जितनी अध्यात्मविषय की उच्च शिक्षा है, वेद में उतनी नहीं है । इसी कारण लोग उपनिषदों को ही विशेषरूप से पढ़ने लग गए और वेद का नाम तो लेते थे किन्तु पढ़ते न थे ।

स्वामी दयानन्दजी ने उपनिषदों को परतः प्रमाण मान कर बेद को स्वतः प्रमाण माना । इससे वेद को वेद का वास्तविक स्थान मिल गया । और इससे यह भी सिद्ध हो गया था कि अध्यात्मविद्या वेद में उच्च है। परन्तु अब तक किसी विद्वान् ने इसे दिखाने का यत्न न किया था । अब **स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी** ने इसे सिद्ध करने के लिये यजुर्वेदीय योगोपनिषद् लिखी है, जिसमें केवल यजुर्वेद के अध्याय ११ के ८ मन्त्र लिखे गए हैं, और अर्थ करते समय उपनिषदों के वह स्थल भी लिख दिये गए हैं, जिनका उससे सम्बन्ध था । स्वामी जी ने यह अत्युत्तम कार्य किया है, और आशा है, वह भविष्य में उपनिषदों के अन्य विषय भी इसी भांति वेद से प्रतिपादन करने की कृपा करेंगे ।

स्वतन्त्रानन्द

दयानन्द उपदेशक विद्यालय, लाहौर ।

❀ ओ३म् ❀

प्रास्ताविक

आज से लगभग २० वर्ष पूर्व, जब पहले पहल संस्कृत भाषा का अभ्यास आरम्भ किया, तो आर्ष होने तथा आचार व्यवहारज्ञान के उपयोगी होने के कारण मनुस्मृति का अध्ययन आरम्भ किया था। मनुस्मृति के छठे अध्याय के २९ वें श्लोक ने चित्त में एक नवीन विचार को उत्पन्न किया। कालान्तर में ऋषि दयानन्द सरस्वती जी के ग्रन्थों ने उस विचारांकुर को पल्लवित किया। परिणाम आप के सामने रखने लगा हूं—

मनुस्मृति का उक्त श्लोक इसप्रकार है—

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।
विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः॥

इसमें वानप्रस्थाश्रमस्थ मनुष्य को नाना दीक्षाओं के साथ "विविध औपनिषदी श्रुतियों" के सेवन करने का आदेश है। मुझे इसका अर्थ 'उपनिषदें' पढ़ाया गया। मेरी आपत्ति थी, कि इसके लिए 'उपनिषदः' पद से कार्य्य चल सकता है, इतना, लम्बा वाक्य किसी अन्य अर्थ की ओर संकेत करता है। मेरा विचार था, जो अब निश्चय में परिवर्त्तित हो चुका है, कि यहाँ उपनिषद्विद्याबोधक वेदमन्त्र अभिप्रेत हैं। ऋषि के ग्रन्थों से इस विचार को पुष्टि मिली। ऋषिवर संस्कारविधि-वानप्रस्थ प्रकरण में इस श्लोक की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"......और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिए नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासनाविधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करे...॥' (सं० वि० २३३ पृ०, १२ वार) ऋषि 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ 'ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियां' करते हैं। श्रुति शब्द का अर्थ ऋषि वेदमन्त्र ही लिया करते है।

उस समय से मुझे ऐसे वेदमन्त्रों के अनुसन्धान की प्रवृत्ति हुई। फुटकर मन्त्र बहुत मिले, उन सब का संग्रह करता गया। किन्तु मन में

पुनः पुनः यह विचार आता था, कि सूक्त के सूक्त ऐसे मिलने चाहिएं। ऋषियों के इस सिद्धान्त ने कि 'ईश्वर ही वेदों का मुख्य विषय है,' इस विचार को और उत्तेजित किया। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्य्यमस्ति" (पृ० ४२)

सारे वेदों का तात्पर्य ईश्वर में ही है। पुनः 'तद्विष्णोः परमं'—मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—

'अतो वेदा विशेषेण तस्यैव (ईश्वरस्यैव) प्रतिपादनं कुर्वन्ति।' (पृ० ४४)

इस वास्ते वेद विशेषरूप से उसीका (परमेश्वर का) प्रतिपादन करते हैं, यह मूलभूत तथ्य है।

फिर 'तत्तु समन्वयात्' [वेदान्तदर्शन १।१।४] की व्याख्या में लिखा है—

"तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति। क्वचित् साक्षात् क्वचित्परम्परया च। अतः परमोऽर्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति।' (पृ० ४४)

वही ब्रह्म सब वेदवाक्यों में प्रतिपादित है। कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से। इस वास्ते वेदों का परम अर्थ ब्रह्म ही है॥

फिर इसी पृष्ठ पर लिखा है—

"एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्येर्थे मुख्यं तात्पर्यमस्ति। तत्प्राप्ति-प्रयोजना एव सर्वे उपदेशाः सन्ति॥'

इसप्रकार सब वेदों का मुख्य तात्पर्य मुख्यार्थ ईश्वर में है। उसकी प्राप्ति के लिए ही सारे उपदेश हैं।

कठोपनिषद् में 'ओम्' को लक्ष्य करके 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' कह कर यही बताया है।

इस उत्तम दृष्टिकोण से वेदाभ्यास आरम्भ किया। जितना वेद का मनन करता गया, यह सिद्धान्त पुष्ट होता गया। अब चारों वेदों से ऐसे

अनेक सूक्तों तथा क्रमबद्ध मन्त्रों का संग्रह किया, जिनमें साक्षात् परमात्मा तथा आत्मा का ही प्रतिपादन है।

उपनिषदों में सृष्टिविद्या, मधुविद्या, अग्निविद्या, वैश्वानर विद्या आदि अनेक उपासनोपयोगी विषयों का निरूपण है। वेदों में उन विषयों का अधिक स्पष्ट और प्राञ्जल वर्णन है। उन विषयों का प्रतिपादन करने वाले सब वेद-मन्त्र क्रमशः पाठकों की भेंट किए जाएंगे।

जो लोग वेद को मनुष्यरचित मानते हैं, वे भी वेदों को उपनिषदों से बहुत पूर्व का मानते हैं। वेदों में उपनिषदों से भी उच्च उपदेश देखकर कदाचित् वे क्रमिक ज्ञानोन्नति के सिद्धान्त को फिर से विचारने में प्रवृत्ति की प्रेरणा प्राप्त करें।

इन मन्त्रों की व्याख्या में संबद्ध उपनिषद्वाक्य भी दे दिए गए हैं, जिससे पाठकों को तुलना करने में सुविधा हो।

इसी रीति पर लिखी गई 'यजुर्वेदीय योगोपनिषत्' आपके सामने हैं। व्याख्या भली है, या बुरी, पूर्वोक्त सिद्धान्त में लेखक को सफलता मिली है या नहीं ? यह सब विज्ञ पाठकों पर छोड़ा जाता है। यदि विद्वान् लोग वेद का अभ्यास इस दृष्टि से करने में प्रवृत्त हों, और उत्तमोत्तम व्याख्या लिखने लग जाएं, तो लेखक अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

इस वेदोपनिषत् के प्रथम पांच मन्त्रों की श्वेताश्वतरोपनिषद् में व्याख्या है, हम ने श्वेताश्वतरोपनिषत् का वह सारा सन्दर्भ यहां अर्थ सहित दे दिया है।

वैदिक वाङ्मय में यह मन्त्र कई स्थानों पर आए हैं, हमारी इच्छा थी, कि उन सारे स्थलों का निर्देश कर दें, किन्तु उपयोगी न समझ कर वैसा नहीं किया।

श्रीस्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने प्राक्कथन लिख देने की कृपा की है, तदर्थ उनका धन्यवाद।

जब यह सारा संग्रह प्रकाशित हो जाएगा, तो ब्रह्मविद्या के सब अंगों पर प्रकाश डालने वाली प्रस्तावना प्रस्तुत की जाएगी।

ओं शम्। ब्रह्मार्पणमस्तु।

मुमुक्षुजनसेवक

६ आषाढ़ १९८८ वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

—०—०—

❀ ओ३म् ❀

अथ योगोपनिषद्

(य० ११।१—८)

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥१॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥२॥
युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥३॥
युञ्जते मनऽउत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥४॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥
यस्य प्रयाणमन्वन्यऽइद्ययुर्देवा
देवस्य महिमानमोजसा।

य: पार्थिवानि विममे स एतशो
रजा ꣳसि देव: सविता महित्वना ।।६।।

देव सवित: प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्व: केतपू: केतन्न: पुनातु वाचस्पतिर्वाचं न: स्वदतु ।।७।।

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳ
सखिविदꣳसत्राजितं धनजितꣳ स्वर्जितम् ।
ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं
बृहद्गायत्रवर्तनि स्वाहा ।।८।।

इति यजुर्वेदान्तर्गता योगोपनिषत् ।

———

❀ ओ३म् ❀

अथ योगोपनिषत्

फल सहित योगोपदेश

युञ्जानः प्रथमं मनस् तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ।।१।।

(सविता) ऐश्वर्य्याभिलाषी पुरुष (तत्त्वाय) तत्वज्ञानके लिए (प्रथमँ)-पहले अथवा फैले हुए (मनः) मनोव्यापार या मननात्मिका अन्त करण वृत्ति को तथा (धियः) धारणात्मिका बुद्धिवृत्तियों को (युञ्जानः) समाहित करता हुआ (अग्नेः) सर्वाग्रणी, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक प्रभु से (ज्योतिः) ज्ञानप्रकाश (निचाय्य) निश्चित करके (पृथिव्याः) पृथिवी के लिए, सांसारिक जनोंके लिए अथवा विस्तृति के लिए (अधि) अधिकार पूर्वक (आ) सब ओर, सब प्रकार से (भरत्) धारण करता है । अथवा (पृथिव्याः+अधि) पृथिवी पर (आ+भरत्) सब ओर ले जाता है ।

योग की रीति तथा प्रयोजन दोनों ही इस मन्त्र में भलीभांति बतला दिए गए हैं ।

योगदर्शन में योग का लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' [१.१.] कहा है । चित्त=अन्तःकरण की वृत्तियों का निरोध, योग है । अर्थात् योगजिज्ञासु को चित्तवृत्ति का निरोध परमावश्यक है । वेद कहता है—'प्रथमं मनः धियः युञ्जानः' फैले हुए=अनेकाग्र चंचल मन और वृत्तियों को समाहित

करता हुआ। वृत्तियां यदि फैली हुई न हों, तो उनके समाहित करने का उपदेश व्यर्थ है।

योग का प्रयोजन बताने के लिए 'तत्त्वाय' पद है। तत्त्व= वस्तु का यथार्थ स्वभाव जानना हो, तो योग का अनुष्ठान करो। योगानुष्ठान से एक ऋतंभरा नामक बुद्धि पैदा होती है, जिसके विषय में योगिराज पतंजलि जी कहते हैं—"श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।" ऋतंभरा बुद्धि, श्रुतज्ञान तथा अनुमानज्ञान से विलक्षण होती है, क्योंकि श्रुत और अनुमान तो वस्तु का सामान्य ज्ञान कराते हैं और यह विशेष ज्ञान कराती है। 'विशेष' ही वस्तु का यथार्थ रूप है। क्योंकि उसीके कारण उस वस्तु की अन्य पदार्थों से व्यावृत्ति होती है। अर्थात् ऋतंभरा-जन्यज्ञान परमप्रत्यक्ष होता है। सो वह योग के बिना संभव नहीं, अतः जिसे प्रकृति, पुरुष के यथार्थ ज्ञान की इच्छा हो, वह योगाभ्यास का अनुष्ठान करे।

योग का फल भी संकेत से बता दिया है—'अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य' परमात्मा से ज्योति प्राप्त करके। श्रद्धापूर्वक लगातार दीर्घकाल तक जो योगाभ्यास करते हैं, उन्हें परमात्मज्योति के दर्शन होते हैं।

परमात्मज्योति प्राप्त करके मनुष्य केवल स्वयं ही उसका आनन्द न लेता रहे, अपितु 'पृथिव्या अध्याभरत्' पृथिवी भर में उसे फैला दे। जो उत्तम प्रकाश उसने प्राप्त किया है। उससे संपूर्ण मनुष्यों को आलोकित करे।

योगी दो प्रकार के होते हैं—एक 'युक्त' जो सदा प्रभु में लीन रहते हैं; दूसरे युञ्जान—जो यत्न से, अभ्यास से तत्त्वदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। साधारण पुरुष ही युञ्जान बन सकते हैं। युञ्जान के बाद किसी समय युक्त भी बन सकता है। इसी वास्ते यहां 'युञ्जान' बनने का उपदेश किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण [६. ३. १. १३.] में इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए

'प्राणा धियः' लिखा है। इसके अनुसार 'मन और प्राण' को रोकना आवश्यक है।

इसमें एक गूढ़ बात कही गई है। मन और प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ध्यानयोग आदि किसी साधन से यदि मन रोक लिया जाए, तो प्राण अपने आप रुक जाते हैं। यह उत्तम साधन है। मन और प्राणों के रुकने के साथ सारी वृत्तियां शान्त हो जाती हैं। यदि किसी कारण से पहले मन न रोका जा सके, क्योंकि मन का इसप्रकार रोकना बहुत कठिन है, मन बहुत चंचल तथा वेगवाला है। अर्जुन ने पुकार कर कहा है—

"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ (गीता)

हे कृष्ण जी ! मन चंचल है। बहुत ही उधेड़ बुन करने वाला, बड़ा बलवान् है। वायु की भांति उसका वश करना अत्यन्त कठिन है। तो ऐसे लोगों को चाहिए—प्रथम प्राणों को रोकें, प्राणायाम का अभ्यास करें; मन रुक जाएगा।

सूक्ष्म दृष्टि से विचारा जाए तो प्राणायाम से लेकर समाधि तक योग के पांच अंगों का उपदेश इस मन्त्र में आ गया है। यम नियम के बिना तो कोई योग फलदायक नहीं। आसन योग-क्रिया के लिए अनिवार्य्य है। 'धियः युञ्जानः'—प्राणायाम है।

'मनो धियः युञ्जानः' प्रत्याहार है।

'तत्त्वाय मनो धियः गुञ्जानः' संयम=धारणा ध्यान समाधि है।

'अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य'=समाधि की चरमावस्था है।

'पृथिव्या अध्याभरत्' योगी का कर्त्तव्य है।

इस सारे रहस्य का आकलन कर परमर्षि ने उपदेश किया है—

यो जनो योगं भूगर्भविद्यां च चिकीर्षेत्, स यमादिभिः क्रियाकौशलैश्चान्तःकरणं पवित्रीकृत्य तत्त्वानां विज्ञानाय प्रज्ञां समर्ज्यैतानि गुणकर्म्मस्वभावतो विदित्वोपयुंजीत। पुनर्यत्प्रकाशमानानां सूर्य्यादीनां प्रकाशकं

ब्रह्मास्ति, तद्विज्ञाय स्वात्मनि निश्चित्य सर्वाणि स्वपरप्रयोजनानि साध्नुयात् ।। (यजुर्वेदभाष्य ११ । १ का भावार्थ)।

जो मनुष्य योग और भूगर्भ का ज्ञान करना चाहे, वह यमनियमादि साधनों तथा क्रियाकौशल के द्वारा अन्त:करण को पवित्र करके तत्त्वों के विज्ञान के लिए बुद्धि प्राप्त कर इन सब पदार्थों के गुणकर्मस्वभाव को जानकर उपयोग करे। और जो प्रकाशमान सूर्य्यादि का भी प्रकाशक ब्रह्म है; उसे जान कर, स्वात्मा में निश्चय कर अपने पराए सब प्रयोजनों को सिद्ध करे।

युक्त योगियों के दृष्टान्त से युँजानोत्साहप्रदान

युक्तेन मनसा वयं
देवस्य सवितु: सवे
स्वर्ग्याय शक्त्या ।।२।।

जैसे (वयं) हम (युक्तेन) युक्त (मनसा) मन से तथा (शक्त्या) शक्ति से (सवितु:) सकल जगदुत्पादक सर्वैश्वर्य्यसंपन्न, सर्व प्रेरक (देवस्य) शुभगुणदाता प्रभुके (सवे) उत्पादित जगत् में (स्वर्ग्याय) स्वर्गसाधक कार्य के लिए परमात्मप्रकाश को धारण करते हैं, वैसे तुम भी करो।

युक्त और युंजान की चर्चा पूर्वमन्त्र की व्याख्या में कर आए हैं, वहां युंजान का नाम है। यहां युक्त बनने की प्रेरणा की गई है।

परमात्मप्रकाशप्राप्ति के दो साधन बताए हैं—एक युक्त मन, दूसरा शक्ति। शक्ति से शारीरिक आत्मिक दोनों ही शक्तियां अभिप्रेत हैं। जो दुर्बल-शरीर तथा दुर्बलेन्द्रिय है, जिसका आत्मा पतित है, उसके लिए इस जगत् में स्वर्ग=सुख दुर्लभ है। [स्वर्ग का वैदिक लक्षण हमारे बनाए 'वेदोपदेश' प्रथमभाग वैदिकधर्म्म में देखिए]। इस वास्ते सतत शक्ति का संचय करना चाहिए। योग बहुत बड़ी शक्ति है। कहा भी है—'नास्ति

योगसमं बलम्' । योग के समान कोई बल नहीं है ।

योग द्वारा पहले इसी लोक में ही सुख मिलता है। इसी वास्ते 'सवितुः सवे' कहा है । केवल परलोक में ही नहीं, इस लोक में भी योग सुख देता है । इस मन्त्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण [६-३-१-१४] में दो एक बातें बहुत महत्त्व की लिखी हैं—

१. **'न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन सम्प्रति शक्नोति कर्त्तुम् ।'**

अयुक्त=असमाहित मन से सम्प्रति=इस समय कुछ नहीं कर सकता ।

अर्थात् संसार का कोई कार्य्य करना चाहो, जब तक सब व्यापारों व्यवहारों से हटाकर मन को उस में न लगाया जाए, वह कार्य्य हो नहीं सकता । 'संप्रति=इस समय' शब्द से शतपथकार हमारी संसारव्यवहार-लिप्तदशा की ओर इशारा करते प्रतीत होते हैं । तात्पर्य्य यह कि जब सांसारिक कार्यों की सिद्धि के लिए मनोनिरोध की आवश्यकता है; तो परमार्थ सिद्धि के लिए इस की उपयोगिता में किसे सन्देह हो सकता है ।

२. **'शक्त्या हि स्वर्गं लोकमेति'** शक्ति से स्वर्गलोक को प्राप्त करता है ।

अर्थात् दुर्बलों का स्वर्ग में कोई अधिकार नहीं । आज कल भारतवर्ष के आध्यात्मिकवाद ने भारत को कितना दुर्बल कर दिया है ?

जब तक देश में वैदिक आध्यात्मिकवाद का प्रचार रहा, तब तक सब प्रकार का स्वर्ग यहां था । अब भी वेद और वेदोपनिषत् का प्रचार करने की आवश्यकता है !

परमर्षि ने इस मन्त्र का आशय यह बताया है—

'यदि मनुष्याः परमेश्वरस्य सृष्टौ समाहिताः सन्तो योगं तत्त्वविद्यां च यथाशक्ति सेवेरन्, तेषु प्रकाशितात्मानः सन्तो योगं पदार्थविज्ञानं चाभ्यस्येयुः, तर्हि सिद्धीः कथं न प्राप्नुयुः' ॥

यदि मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि में समाहित होकर योग और तत्त्व-

ज्ञान का यथाशक्ति सेवन करें, और उनमें आत्मप्रकाशयुक्त होकर योग और पदार्थविज्ञान का अभ्यास करें, तो सिद्धियों को कैसे प्राप्त न करें।

विद्या और योग का सहयोग आवश्यक है।

युक्त्वाय सविता देवान्
स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः
सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥

(सविता) योगैश्वर्य्यसम्पन्न योगिराज (बृहत्+ज्योतिः+करिष्यतः) महाप्रकाश कर सकने वाले (स्वः) सुख आनन्द तथा (दिवम्) ज्ञानालोक (यतः) प्राप्त कराने वाले (देवान्) देवों को=इन्द्रियों को, प्राणों को [प्राणा देवाः, श. ६।३।१।१५] (धिया) बुद्धि से (युक्त्वाय) युक्त करके (सविता) इन्द्रियप्रेरणशक्तिसम्पन्न होकर (तान्) उनको (प्र+सुवाति) भली प्रेरणा करता है ॥

'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

योगदर्शन (२.१८) में, महामुनि पतञ्जलि जी कहते है, यह संसार भोग और मोक्षका साधन है। संसारका स्वरूप है भूत [पृथिवी आदि] और इन्द्रिय।

योगका यह सूत्र इस मन्त्रके आधारपर बना है। 'देव' शब्द का अर्थ प्रकाशक है। वैदिक भाषा में पृथिवी आदि भूतों तथा इन्द्रियों को देव कहा जाता है। उनका एक स्वभाव प्रकाश भी है। इन्द्रियां प्रकाश=ज्ञान का साधन है। यदि इन इन्द्रियों को युक्त कर दिया जाए, तो इन की प्रकाशशक्ति बहुत बढ़ जाती है। इन्द्रियशक्ति की क्षीणता लोकव्यवहार में बहुत बाधक होती है। अतः लोकव्यवहार को ठीक रीति से चलाने के लिए भी योग की परमावश्यकता है। स्वच्छ और निर्मल इन्द्रिय शीघ्र ही अपने विषयों से प्रत्याहृत हो जाती हैं, उससे परमार्थ में सहायता मिलती

है। इसी भाव को लेकर—'स्वयंतः, दिवं यतः देवान्' सुख देने वाले और ज्ञान देने वाले देव=इन्द्रिय—कहा है।

'देव' का अर्थ उत्तमगुण भी है। मनुष्यके उत्तमगुण बहुत बड़ा प्रकाश करते हैं।

प्राणों को वश में कर लिया जाए, उनकी गति पर पूरा अधिकार कर लिया जाए, तब सब दुःख और क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। अविद्या आदि क्लेशों के दूर होने से ज्ञानालोक बढ़ता है। इसी वास्ते योगदर्शन में प्राणायाम का फल 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' कहा है। प्राणायामसे आत्मप्रकाश पर पड़ा आवरण क्षीण हो जाता है।

परमात्मपक्ष में—परमात्मा जीवों के हितार्थ लोकसुख तथा मोक्षानन्द की प्राप्ति के लिए भूतों का यथायोग्य संयोग करके सृष्टि रचता है। जो ज्ञानी इस तत्त्व लो समझ कर योगाभ्यास करता है, वह इन से यथायोग्य लाभ उठा सकता है।

परमर्षि ने इस मन्त्र का आशय इस प्रकार लिखा है—

ये योगपदार्थविद्ये अभ्यस्यन्ति, ते अविद्यादिक्लेशानां निवारकान् शुद्धान् गुणान् जनितुं शक्नुवन्ति। य उपदेशकाद्योगं तत्त्वज्ञानं च प्राप्यैवमभ्यस्येत्, सोप्येतान् प्राप्नुयात्।

जो लोग योग और पदार्थविद्याका अभ्यास करते हैं, वे अविद्यादिक्लेशोंके नाश करने वाले शुद्ध गुणोंको पैदा कर सकते हैं।

भगवान् की बड़ी स्तुति

युञ्जते मन उत युञ्जते धियः
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥

(होत्रा) दानादानशील (विप्राः) मेधावी जन (विप्रस्य) परम

मेधावी, लोगोंकी विविध कामनाओंको पूर्ण करने वाले (बृहतः) महान (विपश्चितः) परमज्ञानी प्रभुकी प्राप्तिके लिए (मनः) मनको, अन्तःकरण को (युञ्जते) युक्त करते हैं, योगस्थ करते हैं (उत) और (धियः) प्राणोंको (युञ्जते) योगयुक्त करते हैं। क्योंकि वह परमात्मा (एकः) अकेला (इत्) ही (वयुनावित्) कर्मों और ज्ञानोंको, विचार और आचार-का जाननेवाला हैं, और वही तदनुसार (वि) विविध प्रकारकी सृष्टि तथा पदार्थों को (दधे) धारण करता है। यही (सवितुः) जगदुत्पादक, सत्कर्म प्रेरक, सर्वस्वामी, सर्वसुखदाता (देवस्य) दिव्यगुणसंपन्न प्रभुकी (मही) बड़ी (परिष्टुतिः) स्तुति है।

परमात्मा शक्ति में सब से बड़ा, ज्ञान में सब से बड़ा है। अतः योग-जिज्ञासु शक्ति प्राप्ति के लिए प्रभुकी स्तुति करता है। वेद कहता है— परमात्मा की सबसे बड़ी स्तुति यही है, कि मनुष्य उसके गुण कर्म जान कर उन्हें प्राप्त करे। प्राप्तिका उपाय मन्त्र के पूर्वार्ध में है। जो लोग मनोयोग तथा प्राणायामका अनुष्ठान करते हैं, वे परमात्माकी यथार्थ और बड़ी स्तुति करते हैं।

प्राणियों के विचार और आचार परमात्मा से कभी भी छिप नहीं सकते। वह महाप्रभु जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार सृष्टिद्वारा इन्हें शुभाशभ फल देता रहता है। परमात्मा के इस गुण को जानकर मनुष्य प्रभु की ओर खिचता है।

पूर्वार्ध की व्याख्या प्रकारान्तर से यह भी हो सकती है—

मेधावी विद्वान् लोग अपने से बड़े, प्रभु के विशेष प्रेमी आप्त विद्वान् के शिक्षणानुकूल अपने मन तथा प्राणोंका निरोध करते हैं। अर्थात् योग्य गुरु से योगाभ्यास सीख कर अपना और पराया कल्याण करते हैं।

इस मन्त्र का अर्थ यों भी होसकता है—

जैसे विद्या के ग्रहण करने और देनेवाले मेधावी महात्मा अपनी अपेक्षा उच्च योगी जनों से शिक्षा प्राप्त करके मन और प्राणों को रोकते

हैं, वैसे ही मैं भी विचार और आचार को जानकर 'एक: इत्' = अकेला ही, निस्संग होकर करता हूं। यह निस्संगता निस्पृहता परमात्मा की बड़ी स्तुति है।

परमर्षि ने इसका भाव इसप्रकार दर्शाया है—

ये युक्ताहारविहारा एकान्ते देशे परमात्मानं युञ्जते।

ते तत्त्वविज्ञानं प्राप्य नित्यं सुखं यान्ति ॥

जो युक्त आहार विहार वाले मनुष्य एकान्तस्थान में परमात्मा का योग करते हैं, वे तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर हमेशा सुखी रहते हैं।

योग प्रेरणा

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर् वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।

श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥

मैं (वां) तुम दोनों–प्राण और मनको, अथवा आत्मा और मनको (पूर्व्यं) पूर्ण ज्ञानीसे प्राप्य (ब्रह्म) परमात्मासे (नमोभिः) विनय आदि साधनों द्वारा (युजे) युक्त करता हूं। (श्लोकः) यश (सूरेः) सूर्य्यके (पथ्येव) मार्गकी भांति (वि+एतु) विविध स्थानोंको प्राप्त होता है। वे सब महात्मा (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) अवस्थाओं को आ+तस्थुः) प्राप्त होचुके हैं, और वे (विश्वे) सब (अमृतस्य+पुत्राः) अमर प्रभुके पुत्र (श्रृण्वन्तु) सुनें।

जो मन और प्राणको योगयुक्त करता है। उसका यश और कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाती है। योगी और अयोगी सब तक उसकी कीर्त्ति फैल जाती है।

अथवा

मैं तुम दोनों गुरुशिष्योंको नमस्कार आदि के द्वारा पूर्ण आप्त पुरुषों से विज्ञेय ब्रह्म, अथवा पूर्व्यं ब्रह्म = सबसे पूर्व विद्यमान ब्रह्मज्ञानसे युक्त करता हूं। 'सूरेः श्लोकः'–विद्वान् का यह उपदेश मार्ग की भांति तुम्हें प्राप्त

हो। जो लोग दिव्य धामको प्राप्तकर अमृत प्रभुके पुत्र कहलानेके अधिकारी बन चुके हैं, उनसे सब लोग इस उपदेश को श्रवण करें।

जो योगमार्गमें चलना चाहे, उसे अत्यन्त विनम्र होना चाहिए। अहंकार, मत्सर का त्याग कर देना चाहिए। गुरुजनोंकी सदा नमस्कार आदि से अर्चना किया करे। प्रभुको सदा भक्तिभरी प्रणामांजलि अर्पित करे; सब ज्ञानियोंके हितकारी, ब्रह्मविद्याके महाभण्डार वेदका सदा अभ्यास करे। योगिजनोंसे योगविद्या सीख कर सदा अभ्यास बढ़ाए।

महाराजने इसका भावार्थ यह बताया है—

योगं जिज्ञासुभिराप्ता विद्वांसः संगन्तव्या। तत्संगेन योगविधिं विज्ञाय ब्रह्माभ्यसनीयम्। यथा विद्वत्प्रकाशितो धर्म्ममार्गः सर्वान् सुखेन प्राप्नोति, तथैव कृतयोगाभ्यासानां सङ्गाद्योगविधिः सहजतया प्राप्नोति। नहि कश्चिदेतत्संगमकृत्वा ब्रह्माभ्यासेन विनाऽऽत्मा पवित्रो भूत्वा सर्वं सुखमश्नुते, तस्माद्योगविधिना सहैव सर्वे परं ब्रह्मोपासताम्॥

योगके जिज्ञासुओंको सदा योगारूढ़ विद्वानोंकी संगति करनी चाहिए। उनके संगसे योगविधि जानकर ब्रह्माभ्यास करना चाहिए। जैसे विद्वानों का बताया धर्म्ममार्ग सबको सुखपूर्वक मिलता है, वैसे ही योगनिष्ठ पुरुषों के संगसे योगविधि सरलतासे प्राप्त होजाती है। कोई भी आत्मा योगाभ्यास किए बिना पवित्र होकर सुख नहीं पासकता, इसवास्ते योगविधि के साथ ब्रह्माभ्यास अवश्य करना चाहिए॥

पांच मन्त्रोंकी ऋषि श्वेताश्वतरकृत व्याख्या—

'योगोपनिषत्' के प्रथम पांच मन्त्र थोड़ेसे पाठभेदसे 'श्वेताश्वतर उपनिषत्' के द्वितीय अध्यायके आरम्भमें आए हैं। फिर उनके आगे शेष अध्याय उन पांच मन्त्रोंकी भावात्मक व्याख्या-सी है। यहां उस सारे अध्याय को उद्धृत करके प्रथम पांच मन्त्रोंको छोड़कर [क्योंकि उनकी व्याख्या पहले की जा चुकी है] शेष श्लोकोंका भावार्थ दिया जाता है।

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥१॥
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥
युक्त्वाय मनसा देवान्त्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिःकरिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥३॥
युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्-
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥४॥
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्-
वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्रा
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥५॥
अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥६॥
सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे नहि ते पूर्तमक्षिपत् ॥७॥
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥८॥
प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥
नीहारभूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥
पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातःसजनिष्यमाणः

प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।।१६।।
यो देवो ऽग्नौ यो ऽप्सु
यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु
तस्मै देवाय नमो नमः ।।१७।।

।। इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु द्वितीयोऽध्यायः ।।

भावार्थ—अग्नि जिस हालतमें मथी जाती है, वायु जिस अवस्थामें रोका जाता है, जिस दशामें सोम शेष रह जाता है, उस अवस्था में मन भली प्रकार संगत होता है। प्रभुकी आज्ञासे, अथवा गुरुकी प्रेरणासे पूर्व्य=पूर्णवेदज्ञ ऋषि मुनियोंसे उपास्य ब्रह्मका प्रीतिपूर्वक सेवन करे। यदि तू उस ब्रह्ममें ठिकाना कर ले, तो समय से पूर्व तेरी हानि न हो ।।७।। शरीर को तीन स्थानों से सीधा ऊंचा रख कर, सम रखकर, मनके द्वारा इन्द्रियों को हृदय में प्रविष्ट कर (अर्थात् उनके विषयों से हटा कर) विद्वान् ब्रह्मरूपी नौका द्वारा संपूर्ण भयंकर (संसार) प्रवाहों को तर जाए ।।८।। युक्ताहार विहारवान् और युक्त चेष्टा वाला होकर प्राणोंको रोक कर प्राण के दुर्बल होनेपर नासिका द्वारा उच्छ्वास ले। ज्ञानी दुष्ट घोड़ेसे युक्त रथकी भांति इस मनको सावधान होकर धारण करे ।।९।। समान, समतल, पवित्र, कंकड़, आग, बालू से रहित, शब्दवान् नदी आदि से युक्त, मनके अनुकूल, आंखों को लुभानेवाले, निवास स्थानमें गुहा बनाए ।।१०।। कुहरा, धुआं, सूर्य्य, आग, हवा; खद्योत, (जुगनू), बिजली, स्फटिक; चन्द्र, इनके रूप ब्रह्मसंबन्धी योग को प्रकट करने वाले होते हैं ।।११।। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश रूपी पांच तत्त्वोंके बने शरीरमें योग गुण के प्रवृत्त होने पर उसके योगरूप अग्नि वाले शरीरको न बीमारी होती है न बुढ़ापा और न मृत्यु होती है ।।१२।। शरीर में हलकापन, आरोग्य, अलोलुपता, शरीर के रंगकी सफाई, आवाज का सुधर जाना, पवित्र गन्ध, टट्टी पेशाब की अल्पता ये योग की प्रथम प्रवृत्ति=समाचारकी सूचना देती हैं ।।१३।। जैसे मिट्टीसे लिपटा हुआ सुवर्णादि

धातुसे बना पात्र साफ करने पर चमकने लगता है, इसीप्रकार शरीरधारी आत्मतत्त्वका भलीभांति ज्ञानकर वह असंग पुरुष वीतशोक होकर कृतार्थ हो जाता है ॥१४॥ दीपकके समान आत्मतत्त्वसे युक्त होकर जब ब्रह्मतत्त्व को देखलेता है। तब सब तत्त्वोंसे विशुद्ध, अज, अविनाशी ब्रह्मको जानकर सब बन्धनोंसे छूट जाता है ॥१५॥ यह भगवान् सब दिशाओंमें व्यापक है, सबसे पूर्व है, प्रसिद्ध है। वही गर्भमें रहकर (संसार में रहकर) अन्त करता है। वह विद्यमान था, है, और रहेगा। समस्त उत्पन्न पदार्थोंके सब ओर वह रहता है ॥१६॥ जो प्रभु आगमें है, जो पानी में है, जो सब लोकोंमें व्यापक है, जो ओषधियोंमें विद्यमान है, जो वनस्पतियोंमें विराजमान है, उस प्रभु को बारबार नमस्कार है ॥१७॥

इन श्लोकोंमें प्राय: अनुभवमें आने वाली बातोंका वर्णन है :—

छठे श्लोकमें बताया है कि वायु=प्राण के निरोध=प्राणायामसे शरीरमें अग्नि=आत्माग्निका मथन होता है, सोम=ज्ञान और शान्ति का अतिरेक होता है। और परिणाम मन:स्थिति होती है, अर्थात् मन संकल्प विकल्पको छोड़ देता है। योगोपनिषत् के प्रथम मन्त्र के साथ तुलना कीजिए। अथर्ववेद [१०-८-२०] में भी यही बात कही है—

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वान् ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥

जो उन दोनों अरणियों को (पीपल या शमी की विशेष प्रकार से बनी दो लकड़िएं, जिन से आग पैदा की जाती है। यहां प्राण और अपान दो अरणी हैं) जानता है, जिनसे वसु=ऐश्वर्य का निर्मंथन किया जाता है। वह ज्येष्ठ ब्रह्म को मान सकता है, वह महद्ब्रह्म को जान सकता है।

अथवा अरणीसे श्वेताश्वतरोपनिषत् [१. १४] के अनुसार देह और प्रणव समझना चाहिए। यथा—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

अपनी देह को अधर अरणि बनाकर और प्रणव=ओम् के जापको उत्तरारणि बनाकर ध्यानरूपी निर्मथन=निघर्षण=रगड़से छिपे हुए अग्नि की भांति देव=परमात्माके दर्शन करे।

किस प्रकार अपने देह तथा प्रणव को अरणियों का रूप दिया जाए; इसके ज्ञान के लिए तो गुरुके पास जाना ठीक है, योगोपनिषत् में भी इसका इशारा किया गया है। यहां भी सातवें श्लोक में 'सवित्रा प्रसवेन' उसका द्योतक है। भगवान्‌का आश्रय सर्वकष्टों का विघातक है, इसका भी संकेत इस श्लोकमें है। आठवें से दस श्लोकों में तो खोलकर योग करने की रीति यथावत् बता दी है। आसन, प्राणायाम तथा अभ्यास करनेका स्थान सब कुछ कह दिया है।

अभ्यास प्रवृत्त होने पर मनुष्य को कुछ विचित्र वस्तुओंका दर्शन होता है। किसीको कुछ दीखता है किसीको कुछ और ग्यारहवें में उन सबका वर्णन कर दिया है। अभ्यासीको इससे घबराना न चाहिए। वरन् उत्साहित होकर अपने अभ्यासको अधिक तत्परता से बढ़ाना चाहिए। बारहवें में शारीरिक लाभ बताकर तेरहवें में योगाभ्यास सफलता के मार्ग पर चल पड़ा है, इसका वर्णन किया है। देह हलका हो जाता है, आदतें सुधरने लगती हैं, कान्ति बढ़ती है, इत्यादि।

चौदहवें में योग से आत्मशुद्धि, हर्ष शोकसे विरतिका उल्लेख है।

पद्रहवें में बहुत ही सुन्दर बात कही है। अन्धेरी रात्रिमें जैसे दीपक दिखानेका काम करता है, इसीप्रकार परमात्मविषयक अज्ञाननिशामें योगसाधित आत्मदीपक हाथ में लेकर अभ्यास परमात्मदर्शन रूपी मार्ग का अवलम्बन करे, जिसके दर्शन से इसके सब फन्दे कट जाएँगे।

सोलह व सत्रहवें में भगवान् की महिमा तथा उसे नमस्कार है।

प्राण-महिमा

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा
देवस्य महिमानमोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे स एतशो
रजाँसि देवः सविता महित्वना ॥६॥

(यस्य) जिस (देवस्य) देवके (प्रयाणं) प्रयाण तथा (महिमानं) महिमा के (अनु) पीछे (अन्ये) दूसरे (देवाः) देव (ओजसा) बलात् (ययुः+इत्) चलते ही हैं। (यः) जो (महित्वना) अपनी बड़ाई से (पार्थिवानि) विस्तृत (रजांसि) लोकों को (वि+ममे) विशेष रूपसे मापता है। (सः) वह सविता (देवः) देव (एतशः) गतिशील गति-दाता है।

आधिदैविक पक्ष में—सविता सूर्य्य है। सारे देव—ग्रह उपग्रह आदि उसके प्रयाण—आकर्षण विकर्षणके अनुकूल चलते हैं, क्योंकि वह अपने मण्डलान्तर्गत सब ग्रहों उपग्रहोंसे बड़ा तथा शक्तिशाली है। वह सारे विस्तृत लोक-लोकान्तरों का मानो मान=माप रखता है। वह अपनी शक्ति तथा महत्त्व के कारण इन सबको गति=हरकत देता है, तथा स्वयं गतिशील है।

अध्यात्मपक्ष में—(क) सविता देव मन है। शतपथ ब्राह्मण [६. ३. १.१३] में 'मनो वै सविता' कहा है। अन्य देव यहां प्राण=इन्द्रियां हैं। ('प्राणा देवाः' श. ६,३.१.१५) सारी इन्द्रियां मन के आधीन हैं, जिधर मनका प्रयाण होता है उधर ही इन्द्रियां चल देती हैं, क्योंकि मन इन सबका अधिष्ठाता है। इसी वास्ते उत्तरार्ध में कहा है—'यः पार्थिवानि विममे रजांसि,=जो पार्शिव विस्तृत विशाल अथवा विपुल शक्तिसम्पन्न रजांसि=लोक=ज्ञानसाधन इन्द्रियों को विशेष रूपसे मापन करता है, नियम में रखता है; अपने महत्त्व के कारण वह सविता देव=मनोदेव एतश=इन सबको गति देता है।

इस अर्थके द्वारा वेद एक गहन उपदेश देना चाहता है। यदि अपनी इन्द्रियों को वश में करना चाहते हो, तो इन सबके प्रेरक अधिष्ठाता मनको वशमें करो। इसका उपाय आरंभ के मन्त्रों में बता दिया है, अर्थात् योगसाधन करो।

(ख) सविता मुख्य प्राण है, अन्य देव दूसरे प्राण हैं। मुख्य प्राणके प्रयाणके साथ दूसरे देव भी प्रयाण करने लगते हैं। इस रीतिसे मानों मुख्य प्राणने इन सब प्राणोंके लोकोंको माप रखा है, अतएव यह इन सबका 'एतश' गतिदाता है। प्रश्नोपनिषत् में मानो इसी मन्त्र की व्याख्या-सी है। वह इसप्रकार है—

"अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते, कतर एतत् प्रकाशयन्ते, कः पुनरेषां वरिष्ठः इति ॥१॥

तस्मै स होवाच, आकाशो ह वा एष देवो अग्निरापः पृथिवी वाङ्-मनः चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच 'मा मोहमापद्यथाः। अहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामि' इति ॥३॥

तेऽश्रद्धाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव। तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्वएवोत्क्रामन्ते, तस्मिश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते; तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते, एवं वाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति ॥४॥ (प्रश्नोपनिषत् २ य प्रश्न)।

इसके बाद महाराज पिप्पलादसे विदर्भदेशोत्पन्न भार्गव ने पूछा। भगवन्! कितने देव इस स्थावरजंगम रूप सृष्टिका धारण करते हैं, इनमें से कौनसे इस शरीरको प्रकाशित करते हैं; और इनमें से कौन मुखिया है? ॥१॥ भार्गव को महाराज पिप्पलाद ने कहा, यह आकाश देव= गतिशील वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी और वाणी (वाणी कर्मेन्द्रियों का

उपलक्षण है) मन और आंख, कान (आंख, कान, ज्ञानेन्द्रियों के उपलक्षण हैं) वे सब शरीर का प्रकाश कर परस्पर अभिमान से कहते हैं—'हम इस शरीर को संभालकर धारण करते हैं, ॥२॥ उन सबसे मुखिया प्राण ने कहा—अज्ञानी मत बनो, मैं ही अपनी शक्ति का पांच प्रकारसे विभाग करके इस शरीर को संभाल कर धारण करता हूं ॥३॥ उन्होंने विश्वास न किया। तब वह (मुख्य प्राण) अभिमानपूर्वक थोड़ासा बाहर निकलने लगा। उसके उत्क्रमण करनेपर दूसरे सभी निकलने लगे। उसके ठहर जानेपर सब ठहर गए। जैसा कि रानी मक्खी के उड़ने पर सब मक्खियां उड़ने लगजाती हैं, उसके बैठ जाने पर सब बैठ जाती हैं, ऐसाही वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्रने किया। वे प्रसन्न होकर प्राण=मुख्य प्राण की स्तुति करने लगे।

इस सन्दर्भमें वरिष्ठ=मुख्य प्राण आत्मा ही है, मन नहीं; मनको वरिष्ठ प्राणसे पृथक् कहा है। आत्मा से भी जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही अभिप्रेत हैं। ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों की यह शैली है, कि वे आत्मा तथा परमात्मा का मिला कर वर्णन करते हैं। दोनों का मिश्रित वर्णन करते हुए वह कोई ऐसा संकेत कर देते हैं, जिससे प्रधानतया वहां क्या अभिप्रेत हैं, यह ज्ञात हो जाए। यहां ही लीजिए—उत्तर के आरंभमें आकाशादि की चर्चासे पता लगता है, कि यहां परमात्मा का वर्णन है। किन्तु उत्तर देते हुए चौथे वाक्य में आकाशादि की चर्चा न करके केवल वाणी आदि का उल्लेख किया है। उपनिषत्कार बताना चाहते हैं, कि शरीर का धारण वाणी आदि से न होकर आत्मा से होता है। उपनिषत्कार विशाल दृष्टिके उपदेशक हैं, वे पिण्डसे उठाकर ब्रह्माण्डकी ओर ले जाते हैं। ब्रह्माण्डका धारण आकाशादि से नहीं होता, किन्तु इसका धारक विश्वात्मा परमात्मा है।

इसका तात्पर्य यह नहीं, कि आकाशादि अपना कार्य्य भी नहीं कर सकते। अपितु सब कार्य्य करनेकी क्षमता इनमें नहीं है, परमात्माकी शक्तिसे ये अपना २ कार्य्य कर सकते हैं। इसी प्रकार आँख, नाक, कान,

अपने अपने काममें समर्थ तो हैं, किन्तु आत्मसत्ता से ही इनमें सामर्थ्य आता है।

उपनिषत् का यह सन्दर्भ मन्त्रकी कितनी सुन्दर व्याख्या है। इस उपनिषद्व्याख्या से आत्मा का महत्त्व स्पष्ट प्रतीत होता है।

प्राणसंवाद शतपथब्राह्मण में बड़ी मनोरंजक रीति से वर्णित हुआ है। और इस विषय को अधिक स्पष्ट भी करता है, इस कारण उसे यहां उद्धृत करते हैं—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्चस्वानां भवति। प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानाँ भवति, अपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥१॥ यो ह वै वसिष्ठां वेद, वसिष्ठः स्वानां भवति। वाग्वै वसिष्ठा, वसिष्ठः स्वानां भवति, अपि च येषां बुभूषति, य एवं वेद ॥२॥ यो ह वै प्रतिष्ठां वेद, प्रतितिष्ठति समे, प्रतितिष्ठति दुर्गे। चक्षुर्वै प्रतिष्ठा, चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे, य एवं वेद ॥३॥ यो ह वै सम्पदं वेद, सँहास्मै पद्यते यं कामं कामयते। श्रोत्रं वै संपत् श्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः, सँहास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥४॥ यो ह वा आयतनं वेद, आयतनँ स्वानां भ्रवति आयतनं जनानां। मनो वाऽआयतनम्, आयतनं स्वानां भवति, आयतनं जनानां, य एवं वेद ॥५॥ यो ह वै प्रजातिं वेद, प्रजायते प्रजया पशुभिः, रेतो वै प्रजातिः, प्रजायते प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥६॥ ते हेमे प्राणाः। अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः, 'को नो वसिष्ठ' इति। 'यस्मिन्व उत्क्रान्त इदं शरीरं पापीयो मन्यते, स वो वसिष्ठः' इति ॥७॥ वाग्घोच्चक्राम, सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—'कथमशकत मदृते जीवितुम्' इति। ते होचुः—यथा कदा अवदन्तो वाचा, प्राणन्तः प्राणेन, पश्यन्तश्चक्षुषा, श्रृण्वन्तः श्रोत्रेण, विद्वाँसो मनसा, प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्म' इति, प्रविवेश ह वाक् ॥८॥ चक्षुर्होच्चक्राम, तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच—'कथमशकत मदृते जीवितुम्' इति। ते होचुः— यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, श्रृण्वन्तः श्रोत्रेण,

विद्वाँसो मनसा प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्म' इति, प्रविवेश ह चक्षुः ॥९॥ श्रोत्र ँ होच्चक्राम। तत् संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच – 'कथमशकत मदृते जीवितुम्' इति। ते होचुः 'यथा बधिराः अशृण्वन्तः श्रोत्रेण, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, विद्वाँसो मनसा, प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्म,' इति, प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥१०॥ मनो होच्चक्राम, तत्संवत्सरे प्रोष्यागत्योवाच—'कथमशकत मदृते जीवितुम्' इति। ते होचुः 'यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, प्रजायमाना रेतसा, एवमजीविष्म' इति। प्रविवेश ह मनः ॥११॥ रेतो होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच —'कथमशकत मदृते जीवितुन्' इति। ते होचुः—'यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा, प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा, शृण्वन्तः श्रोत्रेण, विद्वाँसो मनसा, एवमजीविष्म' इति, प्रविवेश ह रेतः ॥१२॥ अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्, यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशङ्कून् संवृहेदेवं हैवेमान् प्राणान् संववर्ह। ते होचुः 'मा भगव उत्क्रमीः, न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्' इति। 'तस्य वै मे बलिं कुरुत' इति। 'तथा' इति ॥१३॥ सा ह वागुवाच—'यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' इति। चक्षुः—'यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि, त्वं तत्प्रतिष्ठोसि' इति। श्रोत्रं—'यद्वा अहँ संपदस्मि, त्वं तत्सम्पदसि' इति। मनो—'यद्वा अहमायतनमस्मि, त्वं तदायतनमसि' इति। रेतो 'यद्वा अहं प्रजातिरस्मि, त्वं तत्प्रजातिरसि' इति। 'तस्यो मे किमन्नं किं वासः' इति। यदिदं किं चाश्वभ्य आक्रिमिभ्य आ कीटपतंगेभ्यस्तत्ते अन्नमापो वासः' इति। न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं, य एवमेतदनस्यान्नं वेद ॥१४॥ तद् विद्वाँसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचमन्त्यशित्वाचामन्ति, एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वाऽचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते ॥१५॥ शतपथब्राह्मण १४।९।२।१-१५॥

भावार्थः—जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है वह अपनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण=आत्मा ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ है। जो इस प्रकार

जानता है [कि प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है] वह अपनोंमें और जिनमें श्रेष्ठ होना चाहता है। ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है।१।। जो वसिष्ठा को जानता है, वह अपनोंमें वसिष्ठ हो जाता है।। वाणी ही वसिष्ठा है। जो इसे जान लेता है। वह अपनोंमें वसिष्ठ हो जाता है, तथा जिनमें होना चाहता है, उनमें भी ।।२।। जो प्रतिष्ठा को जानता है। वह सममें प्रतिष्ठा पाता है, विषम में प्रतिष्ठा पाता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है। चक्षु के द्वारा ही सममें प्रतिष्ठित होता है, और चक्षुसे ही विषम में प्रतिष्ठा पाता है। सम और विषम में प्रतिष्ठावान् होता है, जो इस बातको जान लेता है। ।।३।। जो संपद् को जानता है, जिस वस्तु की कामना करता है, उसकी यह पूरी होती है। श्रोत्र (कान) ही संपत् है, श्रोत्रमें ही सारे वेद ठीक तौर से संपन्न होते हैं [अर्थात् सब वेदों का ज्ञान श्रोत्रसे सुन कर ही होता है] जो इस को जान लेता है। उसकी सब कामना पूर्ण होती है, जिसकी उसे चाहना होती है। ।।४।। जो आयतन [आश्रय) को जानता है, अपनों का आश्रय बनता है, दूसरे लोगों का आश्रय होता है। मन ही आयतन है। जो इस बात को जानता है, वह अपनों परायों सबका आश्रय हो जाता है। ।।४।। जो प्रजाति प्रजननविद्या [उपनिषद् में प्रजातिके स्थानमें 'प्रजापति' पाठ आया है] को जानता है, वह सन्तान तथा पशुओं द्वारा प्रसिद्ध होता है। रेत (वीर्य्य) ही प्रजाति है [अर्थात् प्रजननका मूल वीर्य्य है। प्रजननाभिलाषियों को वीर्य्यरक्षा पर पूरा ध्यान देना चाहिए। सन्तान भी दो प्रकार की होती है—एक यौन, दूसरी मौख। 'यौन' के लिए तो वीर्य की आवश्यकता स्पष्ट है। 'मौख' के लिए संशय हो सकता है। उसका समाधान यह है, कि अब्रह्मचारी अजितेन्द्रय गुरु के शिष्य भी लम्पट एवं विषयी होंगें। विषयी गुरुकी वाणी में वह बल और ओज कहां ? तभी तो 'ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां वीर्य्यलाभः योगसूत्र [२।३८] के भाष्यमें व्यासजी कहते हैं—'सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवति' इति।। वीर्य्य प्रतिष्ठा से सिद्ध मनुष्य अपने शिष्यों में अपेक्षित ज्ञानका आधान करने में समर्थ होता है] जो इस रहस्य को जानता है, वह सन्तान

ग्रौर पशुग्रों से समृद्ध होता है ।।६।। वे सब ऐसे प्राण ग्रपनी बड़ाई (मैं बड़ा हूं मैं बड़ा हूं) के विषय में विवाद करते हुए ब्रह्म [छान्दोग्योपनिषत् में 'प्रजापतिं पितरम् = प्रजापति पिता' पाठ ग्राया है] के पास गए [ग्रौर पूछा]

प्राणगण—हममें से कौन वसिष्ठ है ? [छान्दोग्योपनिषत् में, 'को नः श्रेष्ठः' इति = हममें से कौन श्रेष्ठ है ?]

ब्रह्म—'तुममें से जिसके निकल जाने पर यह शरीर पापी माना जाए, वह तुममें वसिष्ठ है ।

तब वाणी निकल गई, वह एक वर्ष बाहर रहकर ग्राकर बोली—'मेरे बिना तुम कैसे जी सके ?

वे प्राणगण बोले—'जैसे गूंगे वाणी से न बोलते हुए, किन्तु प्राण से जीवन धारण करते हुए, ग्रांखसे देखते हुए, कान से सुनते हुए, मनसे विचार करते, वीर्य्यद्वार प्रजनन करते (हुए जीते हैं) ऐसे हम जीते रहे ।'

[यह सुनकर लज्जित हो] वाणी शरीर में प्रविष्ट हो गई ।।८।।

तब ग्रांख निकल गई, वह एक वर्ष बाहर रहकर ग्राकर बोली—'मेरे बिना कैसे जी सके ।"

वे बोले—"जैसे ग्रांख से न देखते हुए ग्रन्धे, किन्तु प्राणसे जीते हुए, बाणी से बोलते हुए, श्रोत्रसे सुनते हुए, मनसे मनन करते हुए, वीर्य्यसे प्रजनन करते हुए [जीते हैं]। ऐसे ही हम जीते रहे ।"

[यह सुनकर लज्जित हो]ग्रांख प्रविष्ट हो गई ।।९।। तब श्रोत्र बाहर निकला । वर्ष भर बाहर रहकर लौट कर बोला—"मेरे विना कैसे जीते रहे ।"

वे बोले—'जैसे बहिरे कान से न सुनते हुए, किन्तु प्राणसे जीते हुए, वाणी से बोलते हुए, ग्रांख से देखते हुए, मनसे विचार करते हुए, वीर्य्यसे सन्तानविस्तार करते हुए [जीते हैं] ऐसे हम जीते रहे ।"

[यह सुनकर लज्जित हो] कान शरीर में प्रविष्ट हो गया ।।१०।। ग्रब

अब मन निकला। वह वर्ष भर बाहर रहकर लौटकर कहने लगा—"मेरे विना कैसे जीते रहे।"

वे बोले—"जैसे मुग्ध = भोले मूर्ख मन से विचार न करते हुए, किन्तु प्राणसे जीते हुए, वाणी से बोलते हुए, आंखसे देखते हुए, कानसे सुनते हुए, वीर्यसे सन्तान करते हुए [जीते हैं], ऐसे ही हम जीते रहे।"

[यह सुन, लज्जित हो] मन भी प्रविष्ट हो गया। ॥११॥ अब वीर्य्य = प्रजनन शक्ति बाहर निकल गई। वह वर्ष भर बाहर रहकर आकर बोला—"मेरे बिना कैसे जीते रहे।"

वे बोले—'जैसे वीर्य्यहीन नपुंसक संतान न पैदा करते हुए, किन्तु प्राणसे जीवन धारण करते हुए, वाणीसे बोलते हुए, आंखसे देखते हुए, कान से सुनते हुए, मनसे विचार करते हुए [जीते हैं], ऐसे ही हम भी जीते रहे।'

[यह सुन लज्जित हो] वीर्य्य शरीरमें प्रविष्ट हो गया ॥१२॥

अब प्राण निकलने लगा। जैसे सिन्धुदेशोत्पन्न महान् उत्तम अश्व पिछाड़ी के खूंटों को उखाड़ता है, ऐसे ही इन सब प्राणों को उसने उखाड़ दिया, [तब] वे [घबड़ाकर] बोले। "हे भगवन्! आप मत निकलिए, तेरे विना हम नहीं जी सकते।"

[प्राणने कहा] मेरे लिए बलि दो [मुझे कर दो]। वे बोले—तथास्तु ॥१३॥

तब वह वाणी बोली—"मैं जो वसिष्ठा हूं, तू उसका भी वसिष्ठ है।

आंख ने कहा—'मैं जो प्रतिष्ठा हूं, तू उसकी ही प्रतिष्ठा है।'

कानने कहा—'मैं जो संपत् हूं, तू उसकी संपत् है।'

मन ने कहा—मैं जो आयतन हूं, उसका आयतन तू है।'

वीर्य्य बोला—मैं जो प्रजाति हूं, उसका मूल प्रजाति तू है।

[तब वह मुख्य प्राण बोला]—'मेरे लिए क्या अन्न और क्या वस्त्र है?'

[वे बोले]—"कुत्तों से लेकर, कीड़े मकौड़े से कीटपतंग=पशु-पक्षी तक का जो अन्न है, वह तेरा अन्न है, और आपः=जल तेरा वस्त्र है।"

जो अन=प्राणके अन्नको इस प्रकार जानता है, अनन्न अभक्ष्य=उसका भोजन नहीं होता, और न ही वह अनन्न का प्रतिग्रह करता है ॥१४॥

इस बातको जानने वाले वेदज्ञ विद्वान् भोजन करने के आरंभ में आचमन करते है, भोजन करके आचमन करते हैं। इसप्रकार से इस प्राण को अनग्न करते हैं। इस वास्ते इस बात को जानने वाला खाने से पूर्व आचमन करे, खाकर आचमन करे। इसप्रकार से वह इस प्राण को अनग्न करता है ॥१५॥

किस प्रकारसे एक एक इन्द्रियकी असमर्थता प्रकट की गई है। प्रत्येक ने अनुभव कर अपनी दुर्बलता को जाना है। और फिर प्राण के महत्त्व को समझ कर उसके सहारे अपनी सत्ताका अनुभव इन्द्रियों को हुआ है।

ऋषि लोग बात स्पष्ट करने के लिए आख्यान का आश्रय लेते हैं। बात खोलने के लिए उन्हें पूर्वप्रयुक्त शब्दों को फिर प्रयोग करने में संकोच नहीं होता। वे आत्मरहस्य का उद्घाटन करने बैठे हैं, न कि शब्दाडम्बर द्वारा अपनी पण्डिताई दिखाने और अपना अज्ञान छिपाने। ऋषियों में और साधारण पण्डितों में यही भेद है। पण्डित अपनी महत्ता दिखाना चाहता है। ऋषि राह दिखाना चाहता है। अन्तरं महदन्तरं !!!

कई लोगों का कहना है, कि 'प्राण' शब्द से यहां 'सांस, अर्थ लेना ठीक है। आपाततः उनकी बात ठीक भी मालूम होती है। क्योंकि सब इन्द्रियों का यहां नाम लिया है, किन्तु सांसकी इन्द्रियका नाम नहीं लिया। और फिर जब सांस उखड़ने लगता है, तो सब इन्द्रिय व्याकुल होजाते हैं। सांसके निकलने पर सब समाप्त होजाते हैं। रात्रि को सब इन्द्रियां कार्य्य बन्द कर देती हैं। किन्तु प्राण के कारण जीवन बना रहता है। परन्तु एक बात है, जो प्राण का अर्थ यहां 'सांस' मानने में बाधक है। योगी जन

प्राण का निरोध करके इसकी गति रोक देते है, फिर भी उस समय शरीर मृतक नहीं होता। मृतक होनेपर शरीर दुर्गन्धमय होजाता है, किन्तु प्राण-निरोधसे शरीरमें कोई सड़ांद नहीं होती। इस वास्ते कोई शक्ति ऐसी है, जिसके चले जाने पर शरीर पापिष्ठतर हो जाता है, वह आत्मा है, प्राण आत्मा के विना रह ही नहीं सकता। इस वास्ते प्राण में जो भी शक्ति है, जो भी महत्ता है, वह सब आत्मा के बलसे ही है। इसवास्ते यहां प्राणसे आत्मा ही अर्थ लेना ठीक है। विशेष विवेचन 'अथर्ववेदीय प्राणोपनिषत्' की व्याख्या में करेंगे।

(ग) सविता यहां जगत्प्रसविता है। परमात्मदेव के प्रयाण=उत्तम प्रेरणासे अन्य देव—सूर्य्य चन्द्र आदि गतिमान् हैं। सविता प्रभु इन सब लोक लोकान्तरों को बनाते है, इन सबमें वे व्यापक है। प्रभु की सत्ता के विना यह कुछ नहीं कर सकते। शङ्कर कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

तेरी शुभ सत्ता विना हे प्रभु मंगलमूल।
पत्ता भी हिलता नहीं खिले न कोई फूल॥

भगवान् तलवकार ऋषिने मन्त्र के इस आशय को एक आलंकारिक आख्यायिका द्वारा बहुत ही मनोहर रीतिसे प्रकट किया है—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये। तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त, त ऐक्षन्त 'अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमा' इति॥ तद्धैषां विजज्ञौ। तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति॥ तेऽग्निमब्रुवन्—'जातवेदः! एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षम्', इति॥ तदभ्यद्रवत, तमभ्यवदत्—'कोऽसि' इति। 'अग्निर्वा अहमस्मि' इत्यब्रवीत् 'जातवेदा वा अहमस्मि' इति॥ 'तस्मिँस्त्वयि किं वीर्य्यम्' इति। 'अपीदं सर्वं दहेयं, यदिद पृथिव्याम्' इति॥ तस्मै तृणं निदधौ 'एतद्दह' इति॥ तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक दग्धुम्, स तत एव निववृते, 'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षम्' इति॥ अथ वायुमब्रुवन् 'वायो! एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षम्' इति। 'तथा' इति? तदभ्यद्रवत, तमभ्यवदत्—'कोऽसि' इति। 'वायुर्वा अहमस्मि' इत्यब्रवीत् 'मातरिश्वा वा अहमस्मि' इति॥ तस्मिँस्त्वयि किं

वीर्यं' इति। 'अपीदँ सर्वमाददीय, यदिदं पृथिव्याम्' इति ॥ तस्मै तृणं निदधौ 'एतदादत्स्व' इति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाकादातुम्। स तत एव निववृते—'नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षम्' इति॥ अथेन्द्रमब्रुवन्—'मघवन्! एतद्विजानीहि, किमेतद्यक्षम्' इति। 'तथा' इति। तदभ्यद्रवत्, तस्मात्तिरोदधे। स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्। ताँ होवाच—'किमेतद्यक्षम्' इति॥

इति तृतीयः खण्डः समाप्तः।

सा 'ब्रह्म' इति होवाच। 'ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वम्' इति ततो हैव विदांचकार 'ब्रह्म' इति॥ (केनोपनिषत्)

भावार्थ—ब्रह्म ने देवों के लिये विजय की। ब्रह्म की विजय के कारण देवों की महिमा बढ़ी। वे सोचने लगे—'यह हमारी विजय है, यह हमारी बड़ाई है।' ब्रह्मने उनके इस भावकों जान लिया। अत एव वह इनके लिए प्रकट हुआ। वे सारे देव न जान सके, कि 'यह यक्ष कौन है।' उन सबने अग्निसे कहा—'हे जातवेदः! इसे जान कि यह यक्ष कौन है?'

(अग्नि ने कहा)—'तथास्तु', अच्छी बात है।

तब अग्नि उसके पास दौड़ कर गया।

यक्षने उससे पूछा—'तू कौन है ?

अग्निने उत्तर दिया—'मैं अग्नि हूं, निश्चय पूर्वक मैं जातवेदा हूं।

(यक्षने पूछा)—'तुझमें क्या शक्ति है'।

अग्निने कहा—चाहूं तो इस सबको जला दूं, जो इस पृथिवी पर है।

(तब यक्षने) उसके आगे तिनका रख दिया और कहा—'इसको जला।'

अग्नि पूर्ण शक्ति से उस (तिनके) के पास गया, किन्तु उसे न जला सका। 'यह यक्ष कौन है, ? इसे मैं नहीं जान सका। इस प्रकार लज्जित होकर अग्नि वहीं से लौट आया।

इसके बाद वायुसे कहा—'हे वायो! तू यह मालूम कर, कि यह यक्ष कौन है ?,

(वायुने) 'तथास्तु' (कहा)।

तब वायु उसके पास दौड़ कर गया।

(यक्ष ने उससे पूछा)—'तू कौन है ?'

वायुने कहा—'मैं वायु हूँ, सचमुच मैं मातरिश्वा हूँ।'

यक्षने पूछा—'ऐसे तुममें क्या शक्ति है ?,

(वायु ने कहा), चाहूं तो इस सब कुछको उड़ा दूं जो पृथिवी पर विद्यमान है।

(तब यक्षने) उसके आगे एक तिनका रखा और कहा 'इसे उड़ा'।

वायु उसके पास पूरी शक्ति से गया, किन्तु उसे उड़ा न सका। 'यह यक्ष कौन है। इसे 'मैं नहीं जान सका', (इस लज्जा से) वायु वहीं से लौट आया'।

इसके बाद इन्द्रसे कहा–'मघवन् ! तू ज्ञानकर यह यक्ष कौन है ?, (इन्द्रने कहा)—'तथाऽस्तु'।

इन्द्र उसकी तरफ दौड़कर गया, किन्तु यक्ष उस (इन्द्र) से छिप गया। वह इन्द्र उसी आकाशमें एक बहुत शोभावाली हैमवती उमा स्त्रीके पास आया, और उससे पूछा—'यह यक्ष कौन है ?" (तृतीय खण्ड समाप्त)।

उस स्त्री ने कहा—'यह ब्रह्म है। ब्रह्मकृत विजय से तुम बड़ाई पा-रहे हो', तब इसे (देव) जान पाए। (केनोपनिषत्)।

इस सन्दर्भ का विशेष स्पष्टीकरण अथर्ववेदीय केनोपनिषत् की व्याख्या में किया जाएगा। यहां संकेतमात्र कुछ निबेदन किया जाता है। अधिदेव पक्षमें अग्नि वायु लोकप्रसिद्ध ही ग्रहण किए जाते हैं। इन्द्रसे सूर्य्य अथवा बिजली दोनों लिए जा सकते हैं।

आध्यात्मिक पक्षमें-अग्नि वाणी अथवा चक्षु का उपलक्षण है। वायु श्रोत्र अथवा श्वास का उपलक्षण है। इन्द्र मन अथवा आत्मा है।

इन्द्रियों को प्राकृतिक कार्य्यों के कारण प्रभु की कुछ झलक मिल भी

जाती है, किन्तु परमात्मा सर्वथा इन्द्रियागोचर है। परमात्मा के आश्चर्यमय सामर्थ्यके सामने यह हार जाते हैं। आत्मा या मन जब परमात्माको जानने का प्रयत्न आरंभ करते हैं, तो वाह्येन्द्रियों से संबन्ध तोड़ देते हैं । उन इन्द्रियों से प्राकृतिक कार्य्यकी विलक्षणता का होने वाला जो ज्ञान परमात्माकी सत्ता का अनुमान करने में सहायक हो रहा था, वह भी अब बन्द हो जाता है। इससे आत्मा कुछ कालके लिए सर्वथा विमुग्ध सा हो जाता है। किन्तु यदि लगातार अभ्यास बनाए रखता है, उसमें त्रुटि नहीं आने देता, तब उसे दिव्य बुद्धि प्राप्त होती है । उस बुद्धिके द्वारा इसे ज्ञात होता है कि यह ब्रह्म है। और मुझ में जो सामर्थ्य है, वह भी ब्रह्म का है।

ऋषिने सूक्ष्म रीति से यहां ब्रह्मदर्शनकी विधि की ओर संकेत किया है। पाठक इसका मनन करें और लाभ उठाएं।

पाठक ! इन उपनिषदोंके अवतरणों के साथ वेदमन्त्रकी तुलना कीजिए। वेद कितने सरल शब्दोंमें कितने गहन विषय का उपदेश करता है।

ऋषियों का ऋषित्व इसमें है ना, कि वे मन्त्रार्थको साक्षात् कर लेते हैं। यदि हम लोग ऋषियोंके चरणचिह्नों पर चलें, तो कदाचित् हममें भी वह दिव्य दृष्टि आ जाए।

मन्त्रका आशय समझ कर मनुष्यके हृदयमें परमात्माकी भक्ति का उपजना स्वाभाविक ही है।

परमर्षि ने इस मन्त्रका अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भाव इस प्रकार बताया है—

हे मनुष्याः ! सूर्यादीनां धर्तॄणां धर्त्ता, दातॄणां दाता, महतां महान् प्रकृत्याख्यात् कारणात् सर्वं जगद् विधत्ते, यमनु सर्वे जीवन्ति, तिष्ठन्ति च, स सर्वजगाद्विधाता ध्यातव्योऽस्ति। (ऋ. ५. ८१.३ भाष्य)

ये विद्वांसः सर्वस्य जगतोऽन्तरिक्षेऽनन्तबलेन धर्त्तारं निर्मातारं सुखप्रदं शुद्धं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरमुपासते, त एव सुखयन्ति नेतरे ॥

(यजुः ११।६)

हे मनुष्यो ! जो सूर्य्यादि धारकों का धारक, दाताओं का दाता महानों का महान्, प्रकृतिनामक उपादान कारण से सारे जगत् को बनाता है, जिस की अनुकूलता से सब जीते तथा स्थिर रहते हैं, उसी जगद्विधाता का ध्यान करना चाहिए।

जो विद्वान्, सर्वजगत् के निर्माता और अनन्तबलसे अन्तरिक्ष में जगत् को धारण करनेवाने सुखप्रद सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी उपासना करते हैं, वही सुखी होते है, न कि अन्य।

योगी का कर्त्तव्य

देव सवितः प्रसुव यज्ञं
प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः
पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥७॥

हे (देव) दिव्यगुणयुक्त (सवितः) योगसंपन्न महात्मन् ! (भगाय) कल्याण के लिए (यज्ञं) योगयज्ञ, विद्वत्संगरूप यज्ञको (प्र+सुव) भली प्रकार चला। (यज्ञपतिं) यज्ञों के=शुभकर्म्मो के पालक भगवान् को प्रेर। बह (गन्धर्वः) पृथिव्यादि लोकों का धारक (दिव्यः) देवहितकारी (केतपूः) ज्ञान को पवित्र करने वाला, ज्ञानशोधक अथवा अन्नशोधक प्रभु [अन्नं केतः। श. ६. ३. १. १९] हमारे (केतं) ज्ञान अथवा अन्न को (पुनातु) पवित्र करे। (वाचः+पतिः) वाणी=वेदवाणी का स्वामी (नः) हमारी (वाचं) वाणी को (स्वदतु) स्वादयुक्त=मधुर बनाए। अथवा वाचस्पति=प्राण (प्राणो वाचस्पतिः। श. ६. ३. १. १९) हमारे इस वाचं=इस कर्मको (वाग्वा इदं कर्म। श. ६. ३. १. १९) को पवित्र करे।

योगमार्गी के लिए यहां कई आवश्यक निर्देश किए गए हैं।

१. यज्ञ=श्रेष्ठ कर्मों को करे। अपकर्म और अकर्म्म का सदा त्याग करे। 'प्रसुव' का अर्थ है 'प्रेरणा कर'। कर्म की प्रेरणा तभी हो सकती है,

जब स्वयं भी कर्म करता हो और साथही दूसरों को भी शुभ कर्म करनेके लिए उत्साहित करता रहता हो।

२. यज्ञपति=शुभकर्म के पालक भगवान् को भग=लोककल्याण के लिए प्रेरे। अर्थात् सदा भगवान् से संसारके भले की कामना करे। भगवान् से किसी की बुराई के लिए कभी भी प्रार्थना न करे।

३. विद्वानों के सत्सङ्ग से सदा अपने ज्ञान का संशोधन करता रहे। प्रभु की उपासनासे भी ज्ञानकी विशुद्धि होती है। अतः प्रभुकी उपासनामें प्रमाद न करे।

४. केत=अन्नकी पवित्रताका सदा ध्यान रखे। अन्यायसे अर्जित, पापयुक्त अन्नका ग्रहण कभी न करे। मांस मदिरा अंडा आदि अभक्ष्य और अपेय पदार्थोंका सेवन न करे।

५. योगानुष्ठानके लिए प्राणशक्ति का संचय करे॥

ऋषि ने इसका भाव इसप्रकार दर्शाया है—

ये सकलैश्वर्योपपन्नं शुद्धं ब्रह्मोपासते, योगप्राप्तये प्रार्थयन्ते, तेऽखिलैश्वर्यं शुद्धात्मानं कर्त्तुं योगं च प्राप्तुं शक्नुवन्ति। ये जगदीश्वरवाग्वत् स्ववाचं शुन्धन्ति, ते सत्यवाचः सन्तः सर्वक्रियाफलान्याप्नुवन्ति॥

जो सम्पूर्णैश्वर्य्यसंपन्न शुद्ध ब्रह्मकी उपासना करते हैं, और योगप्राप्ति के लिए प्रार्थना करते हैं, वे सकलैश्वर्य्यप्राप्त स्वात्माको शुद्ध—तथा योग प्राप्त—कर सकते हैं। जो प्रभुकी वाणीकी भान्ति अपनी वाणीको शुद्ध करते हैं, वे सत्यवाक् होकर सब क्रियाफलोंको प्राप्त करते हैं।

योगमहिमा

इमं नो देवसवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यं सखिविदं सत्राजितं धनजितं स्वर्जितम्। ऋचा स्तोमं समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा॥८॥

इति यजुर्वेदीया योगोपनिषत्समाप्ता॥

ओं तत्सत्

(सवितः) अन्तर्यामिरूप से प्रेरक (देव) दिव्यभावयोजक प्रभो ! (नः) हमारे, हमें (इमं) इस, यह (देवाव्यं) दिव्यगुणरक्षक, दिव्यभाव-प्रापक (सखिविदं) सखा=परमात्माको प्राप्त कराने वाले, मित्रों से मिलाने वाले (सत्राजितं) सत्यकी सदा जय कराने वाले (धनजितं) धन=मृत्यु पर जय दिलाने वाले (स्वर्जितम्) आनन्द प्राप्त कराने वाले (यज्ञं) योगयज्ञ को (प्र) भली प्रकार (नय) चला, प्राप्त करा। (ऋचा) ऋचा के द्वारा (स्तोमं) स्तुतिमय यज्ञको (सम्+अर्धय) भली प्रकार बढ़ा। (गायत्रेण) स्तुतिके द्वारा (बृहत्) महान् (रथन्तरं) रमणसाधनों को अथवा गायत्र सामके द्वारा रथन्तरको, और बृहत् को और (स्वाहा) त्यागके द्वारा (गायत्रवर्तनि) स्तुतिव्यवहारको बढ़ा।

योगसे क्या क्या लाभ होते हैं, इनका वर्णन इस वेदमन्त्र में है—

१. देवाव्यं=भले गुणों से प्रीति बढ़ती है।

२. सखिविदं=सच्चा सखा परमात्मा है, भले गुणोंकी पराकाष्ठा भी उसीमें है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में भले गुण बढ़ते हैं, त्यों त्यों वह परमात्मा की समीपता प्राप्त करता है।

३. सत्राजितं=प्रभु प्रीतिके कारण सत्यप्रीति भी बढ़ती है। कोई प्रलोभन इसे सत्यसे डिगा नहीं सकता।

४. धनजितं=धन, निधन, और मृत्यु पर्य्यायशब्द हैं। जो योगाभ्यासी होता है, उसे मृत्युभय रहता ही नहीं। मृत्यु उसके लिए क्लेशप्रद नहीं रहता।

४. स्वर्जितं=आनन्द प्राप्त कराता है।

थोड़ा-सा ध्यान देने से पता चल जाता है कि इसमें एक विशेष क्रम रखा है—

पहले मनुष्यको भले गुणोंका अर्जन करना चाहिए, भले गुणोंके कारण प्रभुप्रीति बढ़ती है, प्रभुप्रेमके कारण सत्यनिष्ठासे मृत्युभय दूर भागता है।

मृत्युभय के दूर होने पर आनन्द ही आनन्द मिलता है। ऐसे लोगोंकी संसार में वृद्धि होती है।

ऋषिने इस मन्त्रका भावार्थ ऐसा लिखा है—

ये जना ईर्ष्याद्वेषादिदोषान् विहायेश्वर इव सर्वैः सह सुहृद्भाव-माचरन्ति, ते संवर्धितुं शक्नुवन्ति ॥

जो लोग ईर्ष्या द्वेष आदि दोषों को छोड़कर ईश्वरकी भांति सबसे प्रीति करते हैं, वही बढ़ सकते हैं ॥

ठीक है। परमेश्वर ही हमारा आदर्श है।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकेण वेदानन्देत्यन्वर्थापराभिधानेन वे. शा. श्रीदयानन्दतीर्थ स्वामिना विरचिता योगोपनिषद्—

व्याख्या पूर्तिमगात् ॥

शुभं भूयात्

ओं शम्

परिशिष्ट

(क)

परमऋषि दयानन्द सरस्वती जी ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में योगप्रतिपादक अनेक मन्त्र दिये हैं। उनमें से दो मन्त्र यहां उद्धृत किये जाते हैं—

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया ।। [यजु० १२। ६७]
युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं
कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिरा श्रुष्टिः सभरा असन्नो
नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ।। [यजु० १२। ६८]

(कवयः) क्रान्तदर्शी, लोकोत्तर बुद्धिमान् महाविद्वान् (धीराः) ध्यानी, योगी महात्मा, योगाभ्यास और उपासना के निमित्त (सीराः) नाडियोंको (पृथक्) पृथक् पृथक् (युञ्जन्ति) युक्त करते हैं। अर्थात् उनमें धारणा ध्यान का अभ्यास करते हैं। और (सुम्नया) सुखद रीति से अर्थात् हठादि किये बिना (देवेषु) इन्द्रियों में अथवा विद्वानों में रहते हुए (युगा) योग साधक अथवा योगयुक्त कर्म (वितन्वते) करते हैं।

हे योगाभिलाषी परमात्मोपासक सज्जनो ! (सीराः+युनक्त) प्राण-युक्त नाड़ियों को योगयुक्त करो। (युगा) उपासनायुक्त कर्मोंको (वि) विशेष प्रकारसे (तनुध्वं) करो। शरीर और अन्तःकरण को (योनौ+कृते) योग का कारण अर्थात् योग के योग्य बना लेने पर (इह) इस जन्म

में, इसी दिन (बीजं) उपासना बीज को (वपत) बोओ। और (गिरा) योगयुक्त सुशिक्षित वाणीके द्वारा (च) और सुविचारके द्वारा (श्रुष्टिः) शीघ्र (सभराः) फलयुक्त होओ। अथवा परमात्मा से प्रार्थना करो कि (नः गिरा श्रुष्टिः सभराः असत्) हमारी वाणी सुमधुर और फलवती हो। (सृण्यः) सर्वक्लेशघातक सद्वृत्तियां (नेदीयः) समीप (इत्) हों और योग का (पक्वं) परिपक्व फल (आ+इयात्) पूरी तरह से मिले।

यहां नाड़ियोंमें ध्यान करनेकी बात कही है। इडा, पिंगला, तथा सुषुम्णा प्रसिद्ध नाड़ियां हैं। वेद में इन्हें गंगा, यमुना तथा सरस्वती कहा जाता है। ऋषिवर "इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति"—[ऋ० १०। ७५। ५] पर लिखते हैं—'इडापिंगलासुषुम्णाकूर्मनाड्यादीनां गंगादिसंज्ञास्ति। (ऋ० भा० भू०। पृष्ठ ३१५) इडा, पिंगला सुषुम्णा कूर्म आदि नाडियों के गंगादि नाम हैं। पुनः उसी पृष्ठ पर लिखा है—

यत्र खल्वेतयोः (इडापिंगलयोः) नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति। तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति।

जहां इन इडा पिंगला नामक दो नाडियोंका सुषुम्णामें समागम होता है। वहां मानो स्नान करनेसे परमयोगी प्रकाशमय परमेश्वर, मोक्ष और सत्य विज्ञानको भलीप्रकार प्राप्त करते हैं।

योगदर्शन में भी नाड़ियों में संयम करने का विधान है—

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। ३। ३१

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। ३। २९

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। ३। ३०

कूर्मनाडी में संयम करने से स्थिरता आती है।

नाभिचक्र में संयम करने से शरीररचना का बोध होता है।

कण्ठकूपमें संयम करने से भूखप्यास की निवृत्ति होती है।

इसीप्रकार अन्य भी कई नाडियों में संयम का विधान है।

'वपत इह बीजम्' (आज ही बीज बोओ) वचन बहुत ध्यानदेने योग्य है। समय मत गंवाओ। जो कुछ करना है, आजही करलो, कल जाने क्या हो। उपनिषद् में कहा है :—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' यदि इसी जन्म में यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो ठीक, अन्यथा महान अनर्थ है।

योगसाधक की वाणी विफल नहीं होनी चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब वह ठीक सत्योच्चार, सत्यविचार, एवं सत्याचार करता हो। वेद में 'गिरा—सभराः' कहा है। योगदर्शन में कहा—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। [२। ३६] सत्यप्रतिष्ठ योगी की वाणी क्रिया एवं फल का आश्रय होती है। इसपर व्यासजी कहते हैं:—'अमोघाऽस्य वाग्भवति' इसकी वाणी अमोघ (अवश्य सफल) होती है।

केवल घंटा दो घंटे नाड़ियों में योगध्यान से काम न चलेगा, अपितु अपना सारा व्यवहार योगमय बनाना चाहिए। अतएव वेद कहता है—'युगा वितनुध्वम्' विशेषरूप से योगसाधक कर्मों का विस्तार करो।

सार यह, कि अपनी वाणी आदि इन्द्रियों के पूर्ण नियन्त्रण, आचार व्यवहार की पवित्रता तथा ध्यान आदि करने से शीघ्र ही क्लेशप्रद वृत्तियों का नाश होकर परमानन्द सुख मिलता है।

ख

योगोपनिषत् में जो विशेष विचारणीय शब्द हैं, उनका अर्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों के आधार पर नीचे लिखा जाता है, ताकि पाठकों को अधिक विचारने की स्फूर्ति हो।

सविता—

१. जगदुत्पादक, (सविता वै देवानां प्रसविता। श. १।१।१।२७) (सर्वस्य जगतो निर्माता। दया., य. भा. ११।६)

२. जगत्स्वामी (सविता वै प्रसवानामीशे। ऐ. १।३०)

३. आदित्य (असौ आदित्यो देवःसविता। श. ६. ३. १. १८)

४. अग्नि (अग्निरेव सविता । गो. पू. १. ३३)

५. प्रजापति (प्रजापतिर्वै सविता । तां १६. ५. १७)

६. वरुण (वरुण एव सविता । जै. उ. ४।२७।६)

७- विद्युत्=बिजुली (विद्युदेव सविता । गो. पू. १. ३३)

८. स्तनयित्नु (स्तनयित्नुरेव सविता । जै. उ. ४।२७।६

९. वायु (वायुरेव सविता । गो. पू. १।३३)

१०. चन्द्र (चन्द्रमा एव सविता । गो. पू. १।६३)

११. यज्ञ (यज्ञ एव सविता । गो. पू. १।३३)

१२. पृथिवी (इयं वै सविता । श. १३।१।४।२)

१३. बादल (अब्भ्रमेव सविता । गो. पू. १।३३)

१४. वेद (वेदा एव सविता । गो. पू. १।३३)

१५. दिन (अहरेव सविता । गो. पू. १।३३)

१६. पुरुष (पुरुष एव सविता । जै. उ. ४।२७।१७)

१७. पशु (पशवो वै सविता । श. ३।२।३।११)

१८. प्राण (प्राण एव सविता । गो' पू. १।३३)

१९. मन (मन एव सविता । गो. पू. १।३३)

२०. जिगर (यकृत्सविता । श. १२।९।१।१५)

२१. राज्य तथा राजा (सविता राष्ट्रं राष्ट्रपतिः । श. ११।४।३।३४)

२२. हिरण्यपाणि (तस्मात् सविता हिरण्यपाणिरिति स्तुतः गो. पू. १।२)

२३. गर्म (उष्णमेव सविता । गो. पू. १.३३) ।

२४. सर्वान्तर्यामी (सवितुः=सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरस्य । दया. ऋ. भा. भू., पृ. १६२) ।

२५. सर्वप्रेरक (सविता सर्वस्य प्रसविता । निरु. १०।१)

२६. योगी
२७. पदार्थवेत्ता } योगपदार्थविज्ञानस्य प्रसविता । दया. य. भा. ११।३

२८. ऐश्वर्याभिलाषी (ऐश्वर्य्यमिच्छुः । दया. य. भा. ११।१)

इत्यादि अनेक अर्थ हैं।

ब्रह्म—

१. वाणी (वाग् ब्रह्म । गो. पू. २।१०)
२. वाणीका परम व्योम (ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम । तै. ३।६।५।५)
३. सत्यं (सत्यं ब्रह्म । श. १४।८।५।१)
४. ऋत (ब्रह्म वा ऋतम् । श. ।४।१।४।१०)
५. मन (मनो ब्रह्म। ष. । १।५)
६. हृदय (हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म । श. १४।६।१०।१८)
७. चक्षु (चक्षुर्ब्रह्म । गो. पू. २।१०)
८. श्रोत्र (श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म । श. १४।६।१०।१२)
९. गायत्री (ब्रह्म हि गायत्री । तां. ११।११।९)
१०. प्रणव=ओम् (ब्रह्म वै प्रणवः । कौ. ११।४)
११. ऋचा (ब्रह्म वा ऋक् । कौ. ७।१०)
१२. मन्त्र (ब्रह्म वै मन्त्रः। श. ७।१।१।५)
१३. वेद (वेदो ब्रह्म । जै.उ. ४।२५।३)
१४. प्रजापतिः (ब्रह्म वै प्रजापतिः श. । १३।६।२।८)
१५. बृहस्पति (ब्रह्म वै बृहस्पतिः । श. ३।१।४।१५)
१६. चन्द्रमा (चन्द्रमा वै ब्रह्म। ऐ. २।४१)
१७. आदित्य (आदित्यो वै ब्रह्म । जै. उ. ३।४।९)
१८. अग्नि (अग्निरेव ब्रह्म । श. १०।४।१।५)
१९. यज्ञ (ब्रह्म वै यज्ञः । ऐ. ७।२२)
२०. वायु (अयं वै ब्रह्म योऽयं पवते । ऐ. ८।२८)
२१. प्राण (प्राणो वै ब्रह्म । श. १४।६।१०।२)
२२. ब्राह्मण (ब्रह्म वै ब्राह्मणः । तै. ३।९।१४।२)
२३. वसन्त (ब्रह्म हि वसन्तः । श. २।१।३।५)

२४. रथन्तर (ब्रह्म वै रथन्तरम्। तां. ११।४।६)

२५. विद्युत् (विद्युत् हि एव ब्रह्म। श. १४।८।७।१)

२६. पण (ब्रह्म वै पणः। तै. १।७। १।६)

२७. पलाश (ब्रह्म वै पलाशः। श. १।३।३।१६)

२८. अमृत (यद् ब्रह्म तदमृतम्। जै. उ. १।२५।१०)

२९. अभय (अभयं वै ब्रह्म। श. १४।७।२।३१)

३०. सर्व (ब्रह्म वे सर्वम्। गो. पू. ५।१५)

३१. त्रिवृत् (ब्रह्म वै त्रिवृत्। तां. २।१६।४)

३२. धन (निघंटु २।१०)

३३. जल (,, १।१२)

३४. अन्न (,, २।६)

इत्यादि अनेक अर्थ हैं

धी—

१. प्राण (प्राणा धियः। श. ६।३।१।१३)

२. कर्म (कर्माणि धियः। गो. १।३२)

३. बुद्धि (नि. ३।९)

विप्र—

१. प्रजापति (प्रजापतिर्वै विप्रः। श. ६।३।१०।१६)

२. देव (देवा विप्राः। ,,)

३. ऋषि (एते वै विप्रा यदृषयः। श. १।४।२।७)

४. सर्वज्ञ परमेश्वर (विप्रस्य=सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य। दया., ऋ. भा. भू., पृ. १६२)

५. ईश्वरोपासक मेधावी (विप्राः=ईश्वरोपासका मेधाविनः

ज्योति

१. अग्नि (अयमग्निर्ज्योतिः। श. ९।४।२।२२)

२. प्राण (प्राणो वै ज्योतिः। श. ८।३।२।१४)

३. अमृत (ज्योतिरमृतम् । श. १४।४।१।३२)
४. शुक्र (ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम् । ऐ. ७।१२)
५. हिरण्य (ज्योतिर्हिरण्यम् । गो. पू- २।२१)
६. दिन (अहर्ज्योतिः । श. १०।२।६।१६)
७. सूर्य्य (ज्योतिरेष य एष तपति । कौ. ३५।३।६)
८. पृथिवी (इयं वै ज्योतिः । तां. १६।१।१७)
६. स्वर्ग (सुवर्गो वै लोको ज्योतिः । तै. १।२।२।२)

देव—

१. प्राण (प्राणा देवाः । श. ६।३।१।१५)
२. आंख (चक्षुर्देवः । गो. पू. १।१०)
३. यज्ञिय (देवा यज्ञियाः । श. १।५।२।३)
४. स्वः=स्वर्ग=मोक्ष (देवा वै स्वः । श. १।६।३।१४)
५. उपदेशक (देवा वै नृचक्षसः । श. ८।४।२।५)
६. गातुविद्=तत्त्ववेत्ता (गातुविदो हि देवाः । श. ४।४।४।१३)
७. महिमा (देवा महिमानः । श. १०।२।२।२)
८. अमर (अमृताः देवाः । श. २।१।३।४)
६. विद्वान् (विद्वांसो हि देवाः । श. ३।७।३।१०)
१०. मन (मनो देवः । गो. पू. २।१०)
११. वाणी (वाग्देवः । गो. पू. २।१०)
१२. वायु (वायुर्वै देवः । जै. उ. ३।४।८)
१३. यश (यशो देवाः । श. २।१।४।६)
१४. श्री=शोभा (श्रीर्देवाः । श. २।१।४।६)
१५. सत्यप्रतिज्ञ (सत्यसंहिता वै देवाः । ऐ. १.६)
१६. पापरहित (अपहतपाप्मानो देवाः । श. २।१।३।४)
१७. परोक्षाभिलाषी (परोक्षकामा हि देवाः । श. ६।१।१।२)
१८. प्रकाशक (देवस्य=सर्वजगत्प्रकाशकस्य । दया., ऋ. भा. भू., पृ० १६२)

१६. ग्रानन्दप्रद (“सर्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य।”)

२०. उपासक (देवान् = उपासकान् योगिनः। ऋ. भा. भू., पृ० १६२)

२१. दाता २२. दीपक २३. द्योतक २४. द्युस्थानी	देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा, यो देवः सा देवता। निरु. ७।१५

ऋषियोंने देव शब्दके ग्रौर भी बहुत से ग्रर्थं लिखे हैं।

स्वः—

१. ग्रन्त (ग्रन्तो वै स्वः। ऐ. ५।२०)

२. देव (देवा वै स्वः। श. १।६।३।१४)

३. यज्ञ (यज्ञो वै स्वः श. १।१।२।२१)

४. दूसरा लोक (स्वरिति ग्रसौ लोकः। श. ८।७।४।५)

५. स्वर्ग (स्वः स्वर्गलोकोऽभवत्। ष. १।५)

६. जल (निघण्टु १।१२)

७. द्यौ ८. ग्रादित्य	निघण्टु. १।४

ग्रमृत—

१. प्राण (अमृतं वै प्राणः। गो. उ. १।१३)

२. जल (ग्रमृतमापः। गो. उ. १।३)

३. दवा (यद्भेषजम् तदमृतम्। गो. पू. ३।४)

४. ब्रह्म (यदमृतं तद्ब्रह्म। ,,)

५. हिरण्य (ग्रमृतं हिरण्यम्। तै. १।७।६।३)

६. सोम (ग्रमृतं ह्येतदमृतेन क्रीणाति, यत्सोमं हिरण्येन। श. ३।३।३।६)

७. ग्रादित्य (ग्रादित्योऽमृतम्। श. १०।२।६।१६)

८. ग्रग्नि (ग्रग्निरमृतम्। श. १०।२।६।१७)

९. प्रजापति (प्रजापतिर्वा अमृतः। श. ६।३।१।१७)

१०. मनुष्य की पूर्ण आयु (एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति। श. ६।५।१।१०)

११. सौ वर्ष वा अधिक आयु (य एव शतं वर्षाणि यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति। श. १०।२।६।८)

१२. मोक्षस्वरूप परमेश्वर (अमृतस्य=मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य। दया., ऋ. भा. भू, पृ० १६६)

पृथिवी

१. पृथिवी

२. अन्तरिक्ष (निघ. १।३, 'अतएव पार्थिवानि' पदका अर्थ 'अन्तरिक्षे विदितानि कार्य्याणि, ऋ.। दया. भा. ५।८१।३ सुसंगत है।)

३. शरीरका कारण (पृथिवी मे शरीरे श्रिता। तै. ३।१०।८।७)

४. लोकोंका आश्रय (पृथिव्यामिमे लोकाः। जै. उ. १।१०।२)

५. रमणसाधन (इयं वै देवरथः। तां० ७।७।१४)

६. वाणी (वागिति पृथिवी। जै. उ. ४।२२।११)

७. वेदि (पृथिवी वेदिः। ऐ. ५।२८)

८. देवों=इन्द्रियों का अधिष्ठान=शरीर (पृथिवी वै सर्वेषां देवानामायतनम्। श. १४।३।२।४)

९. देवयजनी (इयं वै पृथिवी देवी देवयजनी। श. ३।२।२।२०)

इसीप्रकार धेनु आदि अनेक अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थोंमें लिखे हैं।

यज्ञ

१. रक्षादि का साधन (यज्ञो वा अवति। तां० ६।४।५)

२. स्वर्ग (स्वर्गो वै लोको यज्ञः/श. ११।१।८।६)

३. दौड़ने वाला (मृगधर्म्मा वै यज्ञः/तां.। ६।७।१०)

४. वीर्य्य (रेतो वा अत्र यज्ञः। श. ७।३।३।२९)

५. जल (आपो वै यज्ञः। श. ३।८।५।१)
६. भुवन (यज्ञो वै भुवनम्। तै. ३।३।७।५)
७. पुरुषः (यज्ञो वै पुरुषः। श. १।३।२।१)
८. आत्मा (आत्मा वै यज्ञः। श. ६।२।१।७)
९. वाणी (वग्वै यज्ञः। श. १।१।२।२)
१०. उपदेश (यज्ञो वा आश्रावणम्। श. १।५।१।१)
११. देवरथ (देवरथो वा एष यज्ञः। ऐ. २।३७)
१२. देवान्न (यज्ञ उ देवानामन्नम्। श. ८।१।२।१०)
१३. श्रेष्ठकर्म (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। श. १।७।१।५)
१४. हिंसारहित कर्म (अध्वरो वै यज्ञः। श. १।२।४।५)
१५. नमः (यज्ञो वै नमः। श. ७।४।१।३०)
१६. भोगसाधन (यज्ञोहि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति। श. ६।४।१।११)

इसीप्रकार ब्रह्म, अग्नि, वायु, प्राण, सविता आदि अनेक अर्थ ऋषियों ने लिखे हैं।

—:०:—

ग्रन्थनाम संकेत

श.=शतपथ ब्राह्मण
कौ.=कौषीतकी ब्राह्मण
ष.=षड्विंश ब्राह्मण
तै.=तैत्तिरीय ब्राह्मण
ऐ.=ऐतरेय ब्राह्मण
जै. उ.=जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
गो. पू.=गोपथ ब्राह्मण पूर्वार्ध
,, उ.= ,, उत्तरार्ध
तां=ताण्ड्य महाब्राह्मण
य.=यजुर्वेद
ऋ.=ऋग्वेद
अ.=अथर्ववेद
ऋ. भा. भू.=ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
दया.=दयानन्द
निरु.=निरुक्त
निघ.=निघण्टु

—:०:—

विरजानन्द वैदिक संथान के कतिपय प्रकाशन

आर्याभिविनय—सम्पादक–श्री पं० सत्यानन्द शास्त्री एम० ए० ।

यह प्रसिद्ध ग्रन्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती की रचना है। जिसमें कतिपय वेदमन्त्रों का भक्तिभावपूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है।

इस विशिष्ट संस्करण में प्रत्येक मन्त्र व्याख्यान से पूर्व मन्त्र का शब्दार्थ' दे दिया गया है। साथ ही दुरूह स्थलों और क्लिष्ट शब्दों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से यथास्थान विवेकपूर्ण पादटिप्पणियाँ अंकित कर दी गई हैं।

ग्रन्थ में सर्वत्र टाइप विषयानुसार मोटा लगाया गया है, जिससे वृद्ध पाठकों को भी ग्रन्थ अध्ययन में किसी प्रकार का कष्ट न हो।

ग्रन्थ २०×३०/८ आकार के पौने दो सौ पृष्ठों में पूरा हुआ है। कागज, छपाई आदि स्वच्छ, सुन्दर, सजिल्द का मूल्य रु० ५.०० मात्र।

सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव—'सत्यार्थप्रकाश' के लिखे जाने के अस्सी वर्ष पश्चात् महर्षि के अनन्य भक्त श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी ने 'सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव' नामक प्रबन्ध लिखा। यह प्रबन्ध एक प्रतिवेदन है, इस बात का कि गत अस्सी वर्ष में ऋषि दयानन्दानुमोदित ब्रह्मा से लेकर जैमिनी मुनि पर्यन्त [जिन्हें प्रबन्ध लेखक ने 'विरजानन्द मुनि पर्यन्त' लिखा है] महाशय महर्षियों के मन्तव्य कहाँ तक सर्वत्र भूगोल में प्रवृत्त हो पाए हैं।

पाठक पुस्तक पढ़कर स्वयं जान लेंगे कि सत्य किस प्रकार अपने विरोधियों को मूक बना देता है। सत्यार्थप्रकाश में की गई समीक्षा की सुखद छाया में किस प्रकार अन्य धार्मिक लेखकों ने उत्साहपूर्वक असत् को त्यागकर सत्य को खोजने का यत्न किया है और इस प्रकार विभिन्न मत-मतान्तरों में बंटी हुई मानव जाति के विविध समुदायों को एक-दूसरे के समीप लाने का प्रयास किया है। पुस्तक महत्त्वपूर्ण खोजों से भरी है। २०×३०/१६ आकार की सवा सौ से अधिक पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य रु० १.५० मात्र।

ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्य

ग्रन्थकार-विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीर शास्त्री, विद्यावाचस्पति, प्रस्तुत भाष्य में शास्त्रारम्भ के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए–ब्रह्मसूत्रों के अर्थ को मौलिक रूप में स्पष्ट करने का अभिनन्दनीय प्रयास किया गया है। संभव है—प्रस्तुत 'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य' आचार्य शंकर से प्राक्तन वेदान्ताचार्यों की पद्धति के अधिक समीप हो। विद्योदयभाष्य-प्रणेता के वास्तविक सूत्रार्थ-उद्घाटन की सफलता की परख सहृदय पाठक स्वयं करें। ग्रन्थ २३ × ३६।१६ आकार के ८२८ पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। कागज़ उत्तम, छपाई स्वच्छ, सुन्दर, जिल्द सुदृढ़ आकर्षक है।

मूल्य २०) रु० मात्र।

वेदान्तदर्शन का इतिहास—ग्रन्थकार पूर्वोक्त। वेदान्तदर्शन पर शास्त्री जी की यह दूसरी रचना पन्द्रह अध्यायों में पूर्ण है। ग्रन्थ की मुख्य तीन विशेषता निम्न प्रकार हैं—

१—सूत्रकार बादरायण महाभारत के मूल रचयिता महर्षि वेद-व्यास कृष्णद्वैपायन हैं, सूत्ररचना का वही काल है।

२—सूत्ररचना के पूर्व अध्यात्म परम्परा का स्वरूप, तथा आद्य शंकराचार्य से प्राक्तन लगभग बारह आचार्यों का यथोपलब्ध जीवन विवरण, जिन्होंने वेदान्त पर व्याख्या ग्रन्थ लिखे।

३—शंकर मठों में सुरक्षित पुष्कल इतिहास-सामग्री, तथा अन्य इतिहास साधनों के आधार पर आद्य-आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव काल निर्णय-खीष्ट एरा पूर्व ५०६ वर्ष। इससे सम्बद्ध अन्य विचारों की समीक्षा व विवेचन।

ग्रन्थ कलेवर सब प्रकार उत्तम, आकार पूर्ववत्।

मूल्य–२५) रु० मात्र।

वैशेषिकदर्शन विद्योदयभाष्य—ग्रंथकार-पूर्वोक्त। प्रस्तुत भाष्य व्याख्यारूप होते भी मौलिक रचना के समान है। परम्परागत भाष्य सरणि का अन्धानुकरण न करते हुए सूत्रपदों को संदर्भ-संगत अर्थों में जंचाकर दर्शनकार के वास्तविक अभिप्राय को प्रस्तुत करने का श्लाघ्य प्रयास किया गया है। संभवतः यह प्रथम भाष्य है, जिसमें प्रारम्भिक सूत्रगत 'धर्म' पद की शास्त्रानुसार यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

भाष्य के अन्त में दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट हैं। पहले में वैशेषिक के कतिपय उलझनपूर्ण सिद्धान्तों का विवरण, तथा दूसरे में आधुनिक विज्ञान [रसायन व भौतिकी शास्त्र] का संक्षिप्त परिचय तथा वैशेषिक प्रतिपादित पदार्थों के साथ उनका उपयुक्त सन्तुलन प्रस्तुत करने का प्रयास है। आकार आदि पूर्ववत्।

मूल्य–१५) रु० मात्र।

सत्यार्थप्रकाशस्थूलाक्षर (सटिप्पण)

विरजानन्द वैदिक संस्थान के संस्थापक महाविद्वान् स्वर्गीय स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी महाराज कृत 'सत्यार्थप्रकाश' पर विद्वत्तापूर्ण अद्भुत टिप्पणी सहित यह लगभग ७०० पृष्ठों का २० × २६।४ आकार पर २० पाइन्ट टाईप में फ़ोटो आँफ-सैट पद्धति से दो रंगों में छपा हुआ, अत्युत्तम सुबद्ध, अशुद्धिशून्य, अति-सुन्दर प्रकाशन है।

प्रारम्भ में अनेक पाठों के विषय में सम्पादकीय विवरण, तथा सत्यार्थ-प्रकाश के कतिपय कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण दे दिया गया है। अन्त में सत्यार्थप्रकाश-गत समस्त प्रमाणों की सूची तथा विस्तृत विषयसूची आधुनिक रीति पर अकारादि क्रम से श्री पं० उदयवीर शास्त्री द्वारा तैयार की जाकर जोड़ दी गई है। सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण को जनता ने बड़ी उत्कण्ठा के साथ पसन्द किया है। मूल्य—२५) रु०

सांख्यसिद्धान्त—ग्रन्थकार—विद्याभास्कर श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री, विद्यावाचस्पति।

शास्त्रीजी की सांख्यविषयक रचनाओं को दो भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम—सांख्यषडध्यायी का सूत्र-भाष्य, जो 'सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य' के नाम से प्रकाशित है। द्वितीय—सूत्रभाष्य की भूमिका के भी पुनः दो भाग हैं—(१) सांख्यदर्शन का बहिरंग परिचय—सांख्यकार कपिल, उनका युग, सांख्य का उद्भव और विकास, सांख्यपरक ग्रन्थ साहित्य इत्यादि, जिसे 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के रूप में प्रस्तुत किया है। (२) सांख्य का अन्तरंग परिचय—'सांख्यसिद्धान्त' का विषय है।

लगभग पौने छह सौ पृष्ठ का यह बृहत्काय ग्रन्थ पाँच अध्यायों में पूर्ण हुआ है—पुरुष, प्रकृति, प्रकृति के विकार, सांख्यसिद्धांतों की वेदमूलकता, सांख्यदर्शन का प्राचीन साहित्य पर प्रभाव। अन्त में तीन महत्त्वपूर्ण अनुक्रमणिकाएँ भी दे दी गई हैं। कागज़, छपाई, जिल्द आदि अत्युत्तम, आकार १८ × २२/८, मूल्य १६ रु०।

अध्यक्ष—विरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाजियाबाद (मेरठ) उ० प्र०